

# मजदूर बिगुल

पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी 16

जाति उन्मूलन महज़ दलित आबादी का उत्तरदायित्व नहीं है 9

असगर वजाहत की कहानी 'ज़रूम' 15

## 2 सितम्बर की हड़ताल जैसे वार्षिक अनुष्ठानों से क्या होगा?

**पूँजीवादी मुनाफे का चक्का जाम करने के लिए मज़दूरों को अपनी एकता को मज़बूत कर लम्बी लड़ाई लड़नी होगी!**

पिछली बार की तरह इस बार भी 2 सितम्बर को 10 बड़ी केंद्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा एक दिवसीय हड़ताल का आयोजन किया गया। इसे लेकर काफी शोर मचाया गया और विदेशों तक में इसकी दुनिया की सबसे बड़ी हड़ताल के रूप में चर्चा हुई। मगर ऐसे वार्षिक आयोजनों की हकीकत क्या है और इस एकदिनी हड़ताल की रस्म से आखिर होगा क्या?

पिछले 25-26 वर्षों में, जबसे उदारीकरण-निजीकरण-

भूमण्डलीकरण की नीतियों का कहर मज़दूरों पर बरपा हो रहा है, तब से ऐसी रस्मी कवायदें बार-बार होती रही हैं। लेकिन मज़दूरों-कर्मचारियों पर होने वाले हमलों में कोई कमी आयी है? क्या उनके अधिकारों पर होने वाली डकैती में रत्तीभर भी कमी आयी है? उल्टे मज़दूरों को जो भी कानूनी अधिकार और सुरक्षाएँ मिली हुई थीं – जो लम्बे संघर्षों से हासिल की गयी थीं, वे सब एक-एक करके छीनी जा चुकी हैं। देश के 93 प्रतिशत

### सम्पादक मण्डल

**एक दिन की हड़ताल का मकसद होता है मज़दूरों और मेहनतकशों के भीतर पनप रहे गुस्से को थोड़ा-थोड़ा करके निकालना ताकि मज़दूरों का गुस्सा ज्वालामुखी के समान फट न पड़े।**

मज़दूरों के लिए आज श्रम कानूनों का कोई मतलब ही नहीं रह गया है। ठेका, कैजुअल, दिहाड़ी या पीसेट

मज़दूर के रूप में बेहद कम मज़दूरी और बिना किसी सुरक्षा के काम करते हुए उनकी हालत गुलामों से भी बदतर हो गयी है। स्थायी नौकरी में बचे हुए मज़दूरों-कर्मचारियों पर भी छँटनी की तलवार लगातार झूल रही है। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को पूँजीपतियों के हाथों मिट्टी के मोल बेचा जाता रहा है और मज़दूरों को धक्के मारकर बाहर निकाला जाता रहा है। फिर आखिर इन सालाना अनुष्ठानों को लेकर इतना तूमार

क्यों बाँधा जाता है?

असल में एकदिनी हड़तालें करना इन तमाम यूनियनों के अस्तित्व का प्रश्न है। ऐसा करने से उनके बारे में मज़दूरों का भ्रम भी थोड़ा बना रहता है और पूँजीपतियों की सेवा करने का काम भी ये यूनियनों आसानी से कर लेती हैं। यह एकदिनी हड़ताल कितनी कारगर है यह इसी बात से पता चलता है कि ऐसी हड़तालों के दिन आम तौर पर तमाम पूँजीपति (पेज 8 पर जारी)

## अरब देशों में भारतीय मज़दूरों की दिल दहला देने वाली दास्तान

**50 डिग्री तापमान में हाड़तोड़ मेहनत करने के बाद भी भूख से मरने और प्यास से तड़पने की नौबत**

इस साल अप्रैल के महीने में भारत के प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी की सऊदी अरब की यात्रा के दौरान सऊदी शाह सलमान बिन अजीज ने उन्हें सऊदी अरब के सर्वोच्च नागरिक सम्मान से सम्मानित किया। जिस समय नरेन्द्र मोदी यमन के नागरिकों के ताजा खून से सने सऊदी अरब के बर्बर हुक्मरानों के हाथों मिले सम्मान से गदगद हो रहे थे और इन बर्बर शोखों के साथ फोटो खिंचवाने में मसरूफ़ थे उसी समय रोजी-रोटी की तलाश में सऊदी अरब गए भारत के लाखों मज़दूर 50 डिग्री की तपती गर्मी में खट रहे थे और उनमें से तमाम मज़दूर तो हाड़तोड़ मेहनत के बाद भी भरपेट भोजन और प्यास बुझाने के लिए पानी को तरस रहे थे। खुद को देश का मज़दूर नंबर 1 कहने वाले नरेन्द्र

मोदी ने सऊदी अरब में अमानवीय हालत में जी रहे लाखों भारतीय मज़दूरों की सुध लेना ज़रूरी नहीं समझा। आखिर लेते भी क्यों, उनकी यात्रा का मकसद मज़दूरों का हित साधना थोड़े ही था, वे तो भारत के पूँजीपति वर्ग के हितों की हिफ़ाजत के वास्ते सऊदी अरब के बर्बर शोखों और शाहों के साथ गलबहियाँ करने गए हुए थे!

जब सऊदी अरब में भारत के मज़दूरों के हालात इतने खराब हो गए कि वे भूख-प्यास से मरने की कगार पर पहुँच गए और जब उनके दर्दनाक हालात की खबरें अन्तरराष्ट्रीय मीडिया की सुर्खियों में छाने लगीं तो मोदी सरकार को अपनी साख बचाने के लिए भूखे-प्यासे मज़दूरों को भारत वापस लाने की कवायद शुरू करनी पड़ी।

लेकिन सवाल ये उठता है कि आखिर सऊदी अरब की तपती गर्मी में हाड़तोड़ मेहनत करने के बावजूद मज़दूरों को भूखें मरने की नौबत क्यों आन पड़ी। इसका जवाब जानने के लिए हमें खाड़ी के अरब देशों (सऊदी अरब, संयुक्त अरब अमीरात, बहरीन, कुवैत, ओमान, कतर) के तेल भण्डार से प्राप्त पेट्रोडॉलर पर टिके और इस्लामिक राजवंश की सरपरस्ती में पिछले कुछ दशकों में तेज़ी से विकसित हुए विशेष क्रिसिम के पूँजीवाद पर नज़र दौड़ानी होगी।

हालाँकि अरब के देशों में तेल की खोज 20वीं सदी की शुरुआती दशकों में ही हो गयी थी, लेकिन 1960 के दशक तक अरब के तेल उत्पादन के क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों का ही दबदबा था। 1970 के दशक की शुरुआत में

खाड़ी में देशों के शोखों और शाहों ने तेल उत्पादन का राष्ट्रीयकरण करना शुरू किया जिससे उन देशों में पूँजीवादी विकास की ज़मीन पुख़्ता हुई। दुनिया भर में तेल बेचने से प्राप्त राजस्व का इस्तेमाल स्थानीय निर्माण एवं सेवा क्षेत्र में लगाया गया जिसकी वजह से स्थानीय पूँजीपतियों के वर्ग को फलने-फूलने का मौका मिला। तेल के राजस्व के बढ़ने के साथ ही साथ इन मुल्कों में हथियारों और अन्य साजो-सामान का आयात भी बढ़ा और इसके फलस्वरूप एजेंटों और दलालों का वर्ग भी फलने-फूलने लगा। स्थानीय पूँजीपतियों और व्यापारियों ने बैंकों में भी पूँजी लगानी शुरू की और इस्लामिक राज्यसत्ता की सरपरस्ती में खाड़ी के बैंकों और तेल के राजस्व का प्रबंधन करने वाले सार्वजनिक क्षेत्र व

निजी क्षेत्र की कंपनियों (सॉवरेन वेलथ फण्ड) ने विदेशों (खासकर अमेरिका) के शोख बाज़ार में पूँजी लगानी शुरू की। इस प्रकार खाड़ी के देश विश्व पूँजीवादी व्यवस्था से नाभिनालबद्ध हो गए।

हाल के वर्षों में खाड़ी के देश दुनिया के प्रमुख वित्तीय केन्द्रों के रूप में भी उभरे हैं। इस विशेष क्रिसिम के पूँजीवादी विकास ने विशेषकर निर्माण क्षेत्र में मज़दूरों की जबर्दस्त माँग बढ़ी जिसको पूरा करने के लिए इन देशों ने मध्य-पूर्व के अन्य देशों और भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश, नेपाल, इंडोनेशिया, फिलीपीन्स जैसे देशों के प्रवासी मज़दूरों पर निर्भरता का रास्ता चुना क्योंकि देशी मज़दूरों के मुक़ाबले प्रवासी मज़दूरों का

(पेज 10 पर जारी)

**बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!**

## आपस की बात

### मज़दूर इलाक़े में मज़दूर साथियों के साथ के कुछ अनुभव

पिछले दिनों एक साथी कार्यकर्ता के साथ गुडगाँव के अनाज मंडी के करीब स्थित यूनियन कार्यालय पर जाने का मौक़ा मिला। लगातार हो रही बारिश के चलते पहुँचते हुए रात के करीब दस बजे चुके थे। ठिकाने पर दैनिक कार्यक्रमों में साथियों की भागीदारी संबंधी समीक्षा-समाहार बैठक चल रही थी। सामान्य मध्यवर्गीय जन के लिए ऐसी बैठकें थोड़ी असहज हो सकती हैं। वे न ही शामिल हों तो बेहतर होगा। बातचीत जोर-शोर से जारी थी। सुनते हुए लगा कि क्रान्तिकारी राजनीति का सवाल सिर्फ़ राज्यसत्ता को पलटने की तैयारी का नहीं बल्कि हर वक़्त खुद को भी बदलने का सवाल होता है। ऐसा करना किसी के लिए भी, चाहे वह एक खाँटी मज़दूर साथी क्यों न हो, आसान नहीं है।

खैर, बातचीत का दौर समाप्त हुआ और बाहर लगातार हो रही बारिश के बीच सब लोगों ने साथ मिलकर चावल और तरी का आनंद लिया। बातचीत तो चलती ही रही और एक-एक करके लोगों ने बिस्तर पकड़ लिया। अभी शायद पूरा उजाला नहीं हुआ था, तभी एक मज़दूर साथी सुबह छह बजे की अपनी शिफ्ट के लिए निकल चुके थे। बाकी साथी भी उठ कर चाय पीते हुए सामूहिक अध्ययन के विषय को लेकर बात कर रहे थे तभी 'मास्टरनी' रूपी मकान मालकिन आकर इस ठिकाने पर लगातार लोगों की आवाजाही को लेकर चिंता जाहिर करने लगी। "यह

क्या? तुमने तो कहा था कि चार लोग ही आएंगे, यह पाँचवा कहाँ से आ गया?" ज्यादा लोग आयेंगे तो क्या होगा—यह उसे भी नहीं पता था, उसे बस अच्छा नहीं लगा। क्या पता ज़्यादा लोगों के आने से उसका यह घर जल्दी पुराना पड़ जाये, या पता नहीं !! पर यह और साथियों ने भी महसूस किया होगा कि कई बार ऐसा लगता है कि मकान मालिकों के लिए घर कोई कोई खाने की वस्तु जैसा होता है। ज्यादा लोग होंगे तो वह जल्दी खत्म हो जायेगा! राजनितिक जगहों पर यह भी एक दैनिक कार्यक्रम होता है। मज़दूरों और वह भी राजनीतिक मज़दूरों के समूह से पता नहीं राशन की दूकान के बनिया से लेकर मकान मालिक तक हर कोई चिढ़ा हुआ सा क्यों रहता है। आप अच्छे से बात करिये, वक़्त पर किराया दीजिये, साफ़-सुथरा रहिये, सब नाकाफी है। न जाने क्यों ?? जन्माष्टमी से लेकर बर्थडे पार्टी तक लुहेड़े डीजे बजाकर हुल्लड़बाजी करे, इलाके की महिलाओ पर फब्तियां कसे सब माफ़ है!! बस हमारे जैसे दूर-दराज से आकर फैक्ट्रियों में काम करने वाले लोग बातचीत करें, और लोगों से मिलें, यह गवारा नहीं।

बाहर मौसम कुछ साफ़ हो चुका था और हम वहाँ से दिल्ली वापस लौटने के लिए मेट्रो की तरफ निकल चुके थे। बारिश दो दिनों में मिलाकर छह-सात घंटे के लिए भी नहीं हुई होगी, लेकिन ऐसा लगा मानो हम बाढ़-प्रभावित छेत्र

में हो। घुटनों तक पानी लगा हुआ था। बाइक पर सवार लड़के आने-जाने वाले लोगों पर छींटे उड़ाकर जल-क्रीड़ा कर रहे थे। मन तो कर रहा था यही पर 'मेक इन इण्डिया' वालों का एक सम्मेलन करा दिया जाये, लेकिन तभी याद आया, कि उन्हें भी सब पता होगा। मास्टरनी मकान मालकिन का चेहरा याद आ रहा था, कि घर की दीवार पर पानी का छींटा देखते ही जिसके होश उड़ जाते हैं, उसे लगातार सड़क पर बहती इन नालियों का पानी क्यों इतना रास आता है ! 'गऊ-माता' के गोबर से लेकर हर तरह का कूड़ा-करकट इस पानी में मिलकर हमें अपनी तरफ आकर्षित कर रहा था। बहुत देर तक इस दीवार के सहारे, उस पत्थर पर पैर रखकर इनसे बचने का प्रयास आखिर बेकार साबित हुआ। सभी की तरह हमने भी गंगा नहान पूरा कर लिया।

गुडगाँव, शायद एशिया के सबसे बड़े मॉलों के लिए जाना जाता है, यहाँ पर आपको भारत की सबसे बड़ी मीनारें दिख जायेंगी लेकिन इसी शहर के निम्न-मध्यवर्गीय से लेकर मज़दूर इलाकों तक यह हालत एक सामान्य बात है। हम मेट्रो में जब लौट रहे थे, तो गुडगाँव के गुरुग्राम बनने की बात याद आ गयी। इस बार शायद 'गऊ-ग्राम' ठीक रहेगा। गाय जैसा सफ़ेद, उसके मूत्र जैसा स्वास्थ्य-वर्धक और गोबर जैसा पवित्र!!

— शिवाथ

### 'मज़दूर बिगुल' के बारे में मज़दूर परिवार की एक बच्ची के विचार

लुधियाना के मज़दूर पुस्तकालय में मज़दूरों के बच्चों को मुफ़्त ट्यूशन पढ़ाया जाता है। बच्चे वहाँ स्कूल की किताबों के अलावा अन्य किताबें, अखबार, पत्रिकाएँ आदि भी पढ़ते हैं। एक दिन बच्चों की दीदी ने उन्हें 'मज़दूर बिगुल' के बारे में कुछ लिखने के लिए कहा। पाँचवी कक्षा की कोमल ने कुछ इस तरह से लिखा—

यह मज़दूरों का अखबार है। यह

चन्दा इकट्ठा करके छपता है। इस अखबार में कुछ भी छिपाया नहीं जाता। इसमें कोई भी बात छिपाई नहीं जाती। इसमें यह छपता है कि मज़दूर अपना घर कैसे चलाता है। कैसे मज़दूर दिन भर काम करके घर आता है तो रोटी के साथ नमक खाकर सो जाता है। किस तरह मज़दूर फैक्ट्रियों में काम करता है पर मालिक उनकी तनखाह नहीं देता है। सिटी अखबार में वो कुछ भी नहीं

बताते। सिटी अखबार में छपता है क्रीम और पाऊंडर के बारे में और फिल्मों के बारे में छपता है। फैक्ट्री में आग लगने से 300 मज़दूर मर गये तो अखबार वालों को पैसे दिये जाते हैं। वे 300 की जगह 10 मज़दूर लिख देते हैं। इसलिए मज़दूरों का बिगुल अखबार सही है।

— कोमल, पाँचवी कक्षा, सरकारी स्कूल, ताजपुर रोड, लुधियाना

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अखबार और टीवी चैनल हैं। मज़दूरों के पास है

उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!

इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

"बुर्जुआ अखबार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अखबार खुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" — लेनिन

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अखबार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारखाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव

आप इन तरीकों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

ईमेल से भेजने का पता: bigulakhbar@gmail.com

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट

www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं:

www.facebook.com/MazdoorBigul

### 'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफवाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्यवाही चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुआन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की कतारों से क्रान्तिकारी भरती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अखबार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता:

मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

बैंक खाते का विवरण: Mazdoor Bigul

खाता संख्या: 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200

पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता: वार्षिक: 70 रुपये (डाकखर्च सहित); आजीवन: 2000 रुपये  
मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं:

फ़ोन: 0522-2786782, 8853093555, 9936650658

ईमेल: bigulakhbar@gmail.com

फ़ेसबुक: www.facebook.com/MazdoorBigul

### मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006

फ़ोन: 8853093555

दिल्ली सम्पर्क : बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928

ईमेल : bigulakhbar@gmail.com

मूल्य : एक प्रति - ₹. 5/-

वार्षिक - ₹. 70/- (डाक खर्च सहित)

आजीवन सदस्यता - ₹. 2000/-



# होण्डा मज़दूरों का संघर्ष जारी है!

## दिल्ली में जंतर-मंतर पर शुरू हुई अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल

लड़ाई को दिल्ली में चलाया जायेगा। इस संघर्ष में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई है कि ज्यादातर प्रशिक्षित मजदूरों को गैर कानूनी तरीके से काम से बाहर निकलवाने के बाद मैनेजमेंट ने ठेके पर मजदूरों को काम पर रखा जो अप्रशिक्षित हैं और ऑटोमोबाइल सेक्टर के काम से अपरिचित हैं और इस कारण पिछले लम्बे समय से होण्डा 2 एफ़ के अन्दर बन रहे दुपहिया वाहनों में खराबी आ रही है। यह एक बहुत ज़रूरी बात है जिसे हमें अपने आन्दोलन में रणनीतिक इस्तेमाल करना चाहिए। अपनी लड़ाई को आगे

ताकतें ऐसा आन्दोलन खड़ा कर सकती हैं जो होण्डा को झुकाने पर मजबूर कर सकती है। साथ में हमें दूसरा काम यह करना चाहिए कि गुडगाँव में मौजूद होण्डा 1 एफ़ प्लांट में यूनियन से अपील करनी चाहिए कि वे हमारे समर्थन में टूल डाउन करें या इसी तरह से ही हमारे समर्थन में विरोध का कोई तरीका निकालें जिससे कि होण्डा के मुनाफे पर चोट की जा सके। असल में गुडगाँव, मानेसर, धारुहेड़ा, बावल, भिवाड़ी तक फैली ऑटोमोबाइल सेक्टर की औद्योगिक पट्टी में मजदूरों के गुस्से का लावा उबल

पिछले 7 महीनों से टप्पूकड़ा, अलवर (राजस्थान) स्थित होण्डा कम्पनी के मजदूर अपने जायज़ हक़ों और कम्पनी मैनेजमेंट तथा राज्य सरकार द्वारा किये जा रहे बर्बर दमन का सामना करते हुए भी अपने संघर्ष को जुझारू तरीके से लड़ रहे हैं। जितनी बार भी होण्डा के मैनेजमेंट ने पुलिस, राजस्थान की वसुंधरा राजे सरकार, हरियाणा की खट्टर सरकार और अपने भाड़े के टट्टुओं से मजदूरों के संघर्ष पर हमला करवाया है मजदूरों ने उतने ही जुझारू तरीके से जवाब दिया है। मजदूरों ने अब अपने संघर्ष को विस्तारित करते हुए देश की राजधानी के दिल में अपना खूँटा गाड़ लिया है। यह इस संघर्ष का बढ़ा हुआ कदम है और वह कदम है जिससे इस आन्दोलन को जीतने की सम्भावना बढ़ जाती है। मजदूर बिगुल के पन्नों पर हमने 16 फरवरी के बर्बर दमन के बाद से ही होण्डा के मजदूरों को यह सुझाव दिया था कि अपने आन्दोलन को दिल्ली तक लेकर आयें। होण्डा मोटर साइकिल एंड स्कूटर 2 एफ़ कामगार समूह की नेतृत्वकारी कमेटी की यह रणनीति कारगर कदम है जो इस आन्दोलन को जीत के रास्ते लेकर जा सकता है। पिछले 7 महीने से होण्डा के मजदूर जिस भयंकर दमन को झेल रहे हैं उसे कोर्पोरेट मीडिया ने जनता के सामने कभी पेश नहीं किया है। परन्तु अब उन्हें

भी मजबूर होकर होण्डा के संघर्ष को दिखाना होगा क्योंकि होण्डा के मजदूर जंतर मंतर पर विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं और यूनियन के नेता नरेश मेहता समेत अविनाश, सुनील, रवि और विपिन 19 सितम्बर से अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल पर बैठे हैं। होण्डा मजदूरों का यह संघर्ष अब निर्णायक मोड़ तक पहुँच चुका है तो हमें इस आन्दोलन के बीते 7 महीने को भी देख लेना चाहिए।

### होण्डा के मजदूरों का संघर्ष: बीते 7 महीने

16 फरवरी 2016 को होण्डा टप्पूकड़ा की फैक्ट्री में जब एक मजदूर ने बीमार होने के कारण काम करने से मना किया तब फैक्ट्री के सुपरवाइजर ने उसके साथ बुरी तरह मारपीट की। इस जानवर सरीखे सुलूक के खिलाफ़ जब पूरी फैक्ट्री के मजदूर इकट्ठा होने लगे तो होण्डा मैनेजमेंट ने जबरन तालाबंदी कर मजदूरों को बाहर जाने से रोक दिया और शाम होते ही अपने बाउन्सर्स, भाड़े के गुंडों को मजदूरों की यूनियन पहना कर मजदूरों के साथ मारपीट करवाई और पुलिस को बुलवा कर मजदूरों के साथ बुरी तरह से मारपीट की जिसमें कई मजदूरों को गंभीर चोटें आईं। पुलिस ने 44 मजदूरों को गिरफ्तार कर उनपर धारा 307 (हत्या की कोशिश) जैसी

संगीन धाराएँ लगाकर उन्हें 18 दिन तक जेल में डाल दिया। दरअसल होण्डा के मजदूर लम्बे अरसे से अपने जायज़ और संविधान द्वारा दिए गए श्रम अधिकारों को हासिल करने के लिए अपनी यूनियन को पंजीकृत करवाने के लिए प्रयासरत थे। होण्डा मैनेजमेंट मजदूरों की यूनियन को पंजीकृत होने से रोकने के लिए तमाम हथकंडे अपना रही थी और 16 फरवरी की घटना इसी कारण बनी। वैसे मजदूरों के साथ ऐसी घटनाएँ कोई नयी बात नहीं है, जब भी मजदूर अपने हकों के लिए आवाज़ उठाते हैं तब-तब उनके साथ ऐसा ही बर्ताव किया जाता है। 16 फरवरी की घटना के बाद मजदूरों ने जब भी टप्पूकड़ा, धारुहेड़ा में कोई भी प्रदर्शन या रैली आयोजित करने का प्रयास किया तब होण्डा मैनेजमेंट के इशारे पर उन पर राजस्थान पुलिस ने बर्बर लाठीचार्ज किया।

### संघर्ष अब भी जारी है!

जब भी होण्डा मजदूरों ने अपने संविधानिक अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई तब तब उनपर राज्य तंत्र ने बर्बर दमन किया।

लेकिन दमन के कई दौरों को झेलने के बाद, लाठियां, गोलियां और फर्जी मुक़दमे झेलने के बाद भी होण्डा मजदूर जबसे लड़ रहे हैं और अब इस



होण्डा मजदूरों को सम्बोधित करते मज़दूर बिगुल के सम्पादक अभिनव

बढ़ाते हुए होण्डा के मजदूरों को दिल्ली के जंतर मंतर पर खूँटा गाड़कर बैठना चाहिए व पूरी देश की जनता को होण्डा फैक्ट्री द्वारा किये जा रहे अत्याचार से अवगत कराना चाहिए व होण्डा की खराब मोटरसाइकिल और स्कूटर के खिलाफ बहिष्कार आन्दोलन चलाया जाना चाहिए। ऐसे ही एक बहिष्कार आन्दोलन को दुनिया भर में प्रगतिशील ताकतें इजरायल द्वारा गाजा में किये गए ज़ुल्मों के खिलाफ चला रही हैं और उन्होंने इजरायल की अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी है। जब दुनिया भर में मुट्ठी भर कार्यकर्ता इजरायल सरीखे देश के खिलाफ आन्दोलन खड़ा कर सकते हैं तो होण्डा मैनेजमेंट के खिलाफ होण्डा के मजदूर और देश की तमाम प्रगतिशील

रहा है जो समय समय पर फूट कर ज़मीन फाड़कर बाहर निकलता है। ऐसे गुस्से को हमें एक ऐसी यूनियन में बांधना होगा जो पूरे सेक्टर के तौर पर मजदूरों को संगठित कर सकती हो। हमें होण्डा के आन्दोलन को भी पूरे औद्योगिक सेक्टर में फैलाना होगा। इस संघर्ष को हमें जंतर मंतर पर खूँटा बाँधकर चलाना होगा तो दूसरी और हमें टप्पूकड़ा से लेकर गुडगाँव-मानेसर-बावल-भिवाड़ी के मजदूरों में अपने संघर्ष का प्रचार करना चाहिए जिससे कि उन्हें भी इस संघर्ष से जोड़ा जा सके। यह इस आन्दोलन के जीते जाने की सबसे ज़रूरी कड़ी है।

— बिगुल संवाददाता

## टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन, बरगदवां, गोरखपुर और बिगुल मज़दूर दस्ता द्वारा होण्डा के मजदूरों के समर्थन में गोरखपुर में विरोध प्रदर्शन



होण्डा प्रबंधन और नरेन्द्र मोदी का पुतला फूंकते मज़दूर

बिगुल मजदूर दस्ता और टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन की ओर से राजस्थान के टप्पूखेड़ा की होण्डा फैक्ट्री से निकाले गए 300 मजदूरों के समर्थन में बरगदवां औद्योगिक क्षेत्र में प्रदर्शन का किया गया। मजदूरों ने होण्डा के मजदूरों के दमन तथा देशभर में मजदूर अधिकारों पर बढ़ते हमलों के विरोध में होण्डा प्रबंधन और नरेन्द्र मोदी का पुतला फूँका।

प्रदर्शन के दौरान वक्ताओं ने कहा कि पिछले कई महीनों से होण्डा फैक्ट्री से गैरकानूनी तरीके से निकाले गए मजदूर अपनी मांगों को लेकर सड़क पर थे और अब मजदूरों ने दिल्ली के जंतर-मंतर पर अनिश्चितकालीन भूख हड़ताल शुरू कर दी है। मजदूरों के साथ ऐसा बर्ताव नया नहीं है, गोरखपुर के मजदूर भी इसके गवाह हैं। टेक्सटाइल वर्कर्स यूनियन के अध्यक्ष राजू ने

कहा कि आज के समय में पूरे देश भर में मजदूरों की छंटनी, तालाबन्दी जैसी समस्याएं आम बात हो गयी हैं। मोदी सरकार पिछली सरकार से भी आगे निकलते हुए हमें निचोड़ लेने के लिए लगातार हमले किये जा रही है। एक के बाद एक सभी महत्वपूर्ण श्रम कानूनों में "सुधार" किये जा रहे हैं। जो भी श्रम कानून मजदूरों को लूटने के लिए मालिकों की राह में रोड़ा बनते हैं, उन्हें लगातार मालिकों के पक्ष में किया जा रहा है। आज ज़रूरी हो गया है कि पूरे देश का मजदूर वर्ग अपनी एकजुटता को बढ़ाकर देशव्यापी आन्दोलन की तैयारी करे और लूट पर टिकी इस पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर एक नयी व्यवस्था को बनाने की तैयारी करे।

— बिगुल संवाददाता

वज़ीरपुर की फैक्ट्रियों में एक दिन में दो मज़दूरों की मौत!

## हमारी लाशों पर मालिकों के आलीशान बंगले और गाड़ियां खड़ी हैं!

सुरक्षा के इंतज़ाम हासिल करने की लड़ाई मज़बूत करो! यूनियन के सुरक्षा इंतज़ाम अभियान को मजबूत करो!

31 जुलाई को वज़ीरपुर की दो फैक्ट्रियों में दो मज़दूरों की मौत हो गयी। इन दोनों मौतों के बाद भी हर ओर मुर्दा शान्ति थी। ए 127 के मालिक ने अपनी फैक्ट्री में मज़दूर की लाश को आधे घंटे तक रखा जब तक कि वहां एम्बुलेंस नहीं आयी और वहां अपनी गाड़ी होने के बावजूद धर्मेश को अस्पताल नहीं लेकर गया। क्योंकि उसकी गाड़ी खून से गन्दी हो सकती थी। फैक्ट्री के मज़दूर कुछ नहीं कर पाए। सुंदरलाल अस्पताल में उसे मुर्दा घोषित कर दिया गया। मालिक ने फैक्ट्री में फैले खून को अपने गार्डों से साफ़ करवाया और आराम से फैक्ट्री के बाहर घूमता रहा। दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन के कार्यकर्ता जब फैक्ट्री पर पहुंचे तब वहां फैक्ट्री गेट पर झगड़ा होने लगा तब मालिक वहां से नदारद हुआ और उसने फैक्ट्री से सभी मज़दूरों की छुट्टी करवा दी। कुछ मज़दूर यूनियन कार्यकर्ताओं से मिले तो भी तो डरते रहे। यूनियन कार्यकर्ता सनी ने पुलिस को फ़ोन कर फैक्ट्री पर बुलवाया उसके बाद भी बमशिकल ही पुलिस फैक्ट्री आने को तैयार हुयी। पुलिस ने फैक्ट्री मालिक के खिलाफ़ केस तो दर्ज कर लिया और धर्मेश के परिवार को 4 लाख रूपए देने का वायदा कर दिया पर मालिक को थाने से ही जमानत मिल गयी और मज़दूर परिवार को भी पुलिस ने चेता दिया कि केस लगवाकर क्या फायदा, पैसा लेकर घर चले जाओ और इस केस को रफा दफा कर दो। केस कोर्ट जाने से पहले ही खत्म हो चुका है। सिर्फ़ कुछ लाख रूपए कीमत है मज़दूर की ज़िन्दगी की। यह भी तब जब केस दर्ज हो जाये, वर्ना यह बात भी दबा दी जाती है और कुछ हजार रूपए में इस मौत का सौदा हो जाता है। ए 85/3 फैक्ट्री में मालिक और पुलिस यही करना चाहती थी जब प्राथमिकी में मज़दूर साथी की लाश को लावारिस घोषित कर दिया गया पर जब यूनियन के साथी और झुग्गी के लोग इकट्ठा हुए तभी मालिक के खिलाफ़ पुलिस ने केस दर्ज किया। हालांकि दोनों घटनाओं में मज़दूर साथियों के परिवार को मुआवजा मिल चुका है। पर बात मुआवजे की नहीं

है बल्कि सवाल यह है कि ये मौतें होती ही क्यों हैं? क्योंकि फैक्ट्रियों में सुरक्षा के इंतज़ाम नहीं है। मालिक अपने मुनाफे के लिए मज़दूरों को बिना हेलमेट, कलवार के खतरनाक रोलरों, प्रेस पर काम पर लगवा देता है। मालिक के लिए हमारी जान की कोई कीमत नहीं है। लेबर कोर्ट और पुलिस सरकार के लिए हमारी मौत से कोई फर्क नहीं पड़ता। सालों से बिना सुरक्षा इंतज़ामों के देश की राजधानी में मज़दूर मरते हुए, अपने शरीर के अंगों को कटवाकर मालिक की तिजोरी भरते रहते हैं। पर हम इस हालात को बदल सकते हैं। हमें पूरे इलाके में यूनियन द्वारा चलाये जा रहे सुरक्षा इंतज़ाम अभियान को मजबूत करना चाहिए। लेकिन इस अभियान पर बात करने से पहले कुछ और चीज़ें हैं जिनपर हमें बात करनी चाहिए। इन मौतों ने कुछ सवाल उठाये हैं जिनपर हमें सोचना होगा। ज़्यादातर मज़दूर सिर्फ़ मुआवजा मिलने को ही लड़ाई का अंत मानते हैं। फैक्ट्री के अन्दर मौत होने के बाद आसपास मज़दूरों ने मालिक के खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठाई। यूनियन के आने के बाद भी ज़्यादातर मज़दूर मालिक के सामने आने से डरते रहे। आज जब हमारे साथी फैक्ट्री में मरते हैं तो हम चुप रहते हैं। हत्यारा फैक्ट्री मालिक अपने साफ़ सफ़ेद कपड़ों में फैक्ट्री के बहार चहलकदमी करता है और हम चुपचाप फैक्ट्री में स्टील के बर्तनों का उत्पादन करते हैं। पुलिस मालिक पर केस नहीं दर्ज करती है। हम चुप रहते हैं। इन मौतों के उपर छाई हुयी ठंडी खामोशी के कारण ही मालिक और पुलिस हमें हाई वे पर मरने वाला जानवर समझती है जिसकी मौत पर किसी को फर्क नहीं पड़ता है। इसका सबसे बड़ा कारण हमारी गुलाम बने रहने की आदत है। हम जब तक इस गुलामी की आदत से आज़ाद नहीं होते हैं हम यँ ही मरते रहेंगे।

**गुलाम बने रहने की आदत छोड़ो! मज़दूर जब भी जागा इतिहास ने करवट बदली है!**

रोम के गुलामों को राजा महाराजा अपने शौक के लिए युद्ध करवाते थे और



जब तब उनमें से कोई मर न जाता वे लड़ते रहते। उन गुलामों ने विद्रोह किया और आज़ाद होने की लड़ाई लड़ी। फैक्ट्री में हम जिस तरह से मर रहे हैं और उसके बाद जो मुर्दा शान्ति पूरे इलाके में छाई है उससे रोमन साम्राज्य के युग की गुलामी की याद आती है। लेकिन हम २१वीं सदी के मज़दूर हैं जिनके बनाये माल आज देश भर में बिकते हैं फिर हमारी ज़िन्दगी की हालात ऐसी क्यों बन रही है? हम जिस समाज में जी रहे हैं यह वर्ग समाज में इस से कभी फर्क नहीं पड़ता की आजादी के बाद कितने साल बीते हैं और मालिक मुनाफे की अंधी हवस में लगातार हमें बुरी से बुरी हालत में धकेलता जायेगा जब तक कि हम इनका विरोध नहीं करते हैं। स्टील उद्योग या चप्पल उद्योग अपने आप में नरक नहीं है बल्कि वो फैक्ट्री इलाका नरक बनता है जहाँ मज़दूर मालिकों के खिलाफ़ संघर्ष नहीं करते हैं। पीरागढ़ी से लेकर गुडगाँव मानेसर या दार्जिलिंग के चाय बागानों में यह बात साबित हुयी है कि जहाँ मज़दूर चुप रहते हैं यूनियन के तहत लड़ते नहीं है मालिकों की छटनी और सरकार की मालिक परस्त नीतियों के खिलाफ़ आवाज़ नहीं उठाते हैं, वहां मज़दूर बेहद बुरी हालात में काम करने को मजबूर होते हैं। वज़ीरपुर के मज़दूरों ने २०१४ की हड़ताल से यह सिद्ध किया था कि हम लड़ते हैं तो मालिक भी थर्रा जाता है और इन्हें झुकाया जा सकता है। परन्तु इन मौतों के बाद छाई खामोशी हमें तोडनी होगी और इलाके में क्रान्तिकारी यूनियन द्वारा चलाये

जा रहे वज़ीरपुर सुरक्षा अभियान के साथ जुड़ना होगा। इस लड़ाई में अपनी चुनौतियों का सामना करना होगा।

**सरकार, मालिक, श्रम विभाग, पुलिस, दलाल ट्रेड यूनियन सब हमारी लाशों को नोचने वाले गिद्ध हैं**

कारखाने में मज़दूर की मौत होने पर मालिक पर 304 ए के तहत मुकदमा दर्ज होता है और उसे थाने से ही जमानत मिल जाती है। अधिकतर केसों में तो मज़दूर मालिक पर दायर किये मुकदमे को कोर्ट में नहीं लड़ते हैं और कोर्ट में केस बंद हो जाता है और यदि मज़दूर केस लड़ना भी चाहे तो कोर्ट में ये मुकदमे 15-16 साल खींचते रहते हैं जिसमें कोर्ट का ज़ोर मज़दूर और मालिक का समझौता कराने पर ही रहता है। पुलिस इस तरह के मुकदमे को बस कमाई का एक साधन समझती है जिसमें मालिक से पैसे खाने का मौका मिलता है। लेबर कोर्ट इस बीच गांधारी की तरह अन्धा बना रहता है और ऐसी मौतों के बारे में कभी भी कोई बात नहीं की जाती है, फैक्ट्री में सुरक्षा के इन्तज़ाम को लेकर कभी लेबर इन्स्पेक्टर आकर फैक्ट्री का मुआयना नहीं करते हैं। इलाके की दलाल ट्रेड यूनियन इन मुकदमों में अक्सर मामले को रफ़ा-दफ़ा करवाकर कुछ मुआवजे की लड़ाई लड़ती हैं और अपना कमीशन भी मार लेती हैं। दिल्ली सरकार के विधायक की खुद वज़ीरपुर में फैक्ट्रियां हैं जहाँ मज़दूरों के हाथ काटते हैं। तब समझा जा सकता है कि इनकी भूमिका क्या रहती

है? वज़ीरपुर में इन मौतों के बाद इसी फार्मूला के तहत मज़दूर की मौत होने पर हर पक्ष ने अपनी यही भूमिका निभाई। पुलिस ने पहले केस रफ दफा करने की कोशिश की फिर 304 ए के तहत मुकदमा दर्ज किया, इलाके के मशहूर दलाल रघुराज और छोटे-मोटे दलालों ने इस मुआवजे की राशि तय करवाने में पुलिस और मालिक के बीच बिचौलिए की भूमिका अदा की। और हमारी मौत पर सौदे करने वाले ये लोग मज़दूरों की छटनी, उँगली काटने से लेकर किसी भी घटना पर मज़दूर तक इन्साफ नहीं पहुँचने देते हैं। इनका यह लोहे का चक्र हर मज़दूर को अपने बीच खींच लेता है और अकेले मज़दूर या परिवार या एक फैक्ट्री के मज़दूरों को आखिरकार इनके आगे झुकना ही पड़ता है।

**इस लौह चक्र को इलाकाई और सेक्टर आधार पर बनी दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन तोड़ सकती है!**

अगर एक फैक्ट्री के मज़दूर चाहें भी तो मिलकर मालिक-पुलिस-दलाल-लेबरकोर्ट-सरकार की शक्ति से नहीं लड़ सकते हैं। वज़ीरपुर की एक फैक्ट्री में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या औसतन 30 होती है और मालिक किसी भी बात पर पूरी फैक्ट्री के मज़दूरों की जगह दूसरे मज़दूरों को ला सकता है लेकिन अगर स्टील का पूरा सेक्टर जाम हो जाये या पूरे इलाके में हड़ताल हो जाये तो मालिक हमारी बात सुनाने को मजबूर होगा। यह ताकत ही इस लोहचक्र को तोड़ सकती है। यह कारनामा मज़दूरों ने 2014 में हुयी हड़ताल के समय किया था और पूरे इलाके के मालिकों, पुलिस, दलालों को घुटने पर झुकने पर मजबूर कर दिया था। आज हमें पहले तो यह करना होगी कि अपनी गुलाम बने रहने की आदत को त्यागना होगा और दूसरा लड़ने की शुरुआत करनी होगी। इस लड़ाई की शुरुआत हो चुकी है पर इस लड़ाई को तब्दील करने में वज़ीरपुर के मज़दूरों को आगे आना होगा।

— मज़दूर बिगुल

## दाल की बढ़ती कीमतों की हकीकत

इन दिनों जनता दाल की कीमतों में हुई बेतहाशा बढ़ोत्तरी से परेशान है। कहा जा रहा है कि यह बढ़ोत्तरी पिछले एक दशक में दाल की कीमतों में हुई वृद्धि में सबसे अधिक है। आम तौर पर बताया जाता है कि खाद्य पदार्थों की कीमतों में वृद्धि का कारण या तो फसल की कम पैदावार या बाज़ार में माँग का अचानक से बढ़ना होती है। हालाँकि इस मामले में सच्चाई इन बातों से कोसो दूर है।

यहाँ हम दाल की कीमतों में हुई हालिया बढ़ोत्तरी के कारणों को जानने की कोशिश करेंगे। कृषि पैदावार की तमाम फसलें आज सड़ा और वायदा कारोबारियों के कब्जे में पूरी तरह आ

चुकी हैं। आमतौर पर सड़ा कारोबारी सबसे पहले फसलों की पैदावार की स्थितियों पर नज़र रखते हैं यानी किस फसल के खराब होने की संभावना है या कौन सी फसल की पैदावार कम हो सकती है। एक बार ऐसी फसल की पहचान होने पर सड़ा कारोबारी कार्टेल का गठन करते हैं और पहचान की गयी फसल के पहले से संचित भंडारों के साथ ही साथ नई फसल को भी खरीद लेते हैं। यानी बाज़ार में एक कृत्रिम कमी पैदा की जाती है। कार्टेल द्वारा खरीदी गयी फसल को या तो भंडारगृहों में संचित किया जाता है या उसे जहाज़ों में लादकर अलग-अलग बन्दरगाहों पर

खड़ा कर दिया जाता है ताकि इस बीच उस फसल की माँग को अत्यधिक रूप से बढ़ाकर उसकी कीमतों में वृद्धि के लिए रास्ता साफ़ कर दिया जाये।

इसी तरह पिछले वर्ष खाद्य वस्तुओं की बिक्री के लिए मोदी के करीबी उद्योगपति अडानी ने सिंगापुर की 'विल्मर कम्पनी' के साथ मिलकर एक संयुक्त उपक्रम गठित किया। इस संयुक्त उपक्रम का मुख्य उद्देश्य दलहन पैदा करने वाले राज्यों के किसानों से दलहन खरीदकर बाज़ार में बेचना था। हालाँकि प्रचुर संचयन और भंडारण संबंधी अत्यधिक सीमा के नियमों के कारण शुरुआत में अडानी और विल्मर कम्पनी

के संयुक्त अपक्रम के लिए ऐसा करना संभव न हो सका। बाद में मोदी सरकार ने एक सरकारी आदेश जारी करके तीन प्रकार के दलहनों यानी अरहर, मूँग और उरद पर अत्यधिक सीमा के इस नियम को हटा दिया। इसके बाद इस उपक्रम ने मध्य प्रदेश, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और महाराष्ट्र के किसानों के अलावा दलहन को कीनिया, तन्ज़ानिया और मोजम्बीक जैसे अफ्रीकी मुल्कों से 30-40 रू प्रति किलो की बेहद कम कीमतों पर खरीदकर 1000 करोड़ किलो से अधिक दलहन का भंडारण शुरू कर दिया। इस दलहन को बाज़ार में 220 रुपये प्रति किलो तक पर बेचा

जाने लगा। इससे डेढ़ लाख करोड़ से भी ज़्यादा का मुनाफ़ा पीटा गया।

बहरहाल यह गोरखधंधा केवल दालों तक सीमित नहीं है। अन्य खाद्य वस्तुएँ भी इसकी गिरफ्त में हैं। पूँजीवाद उत्पादन के दौरान मेहनतकशों की मेहनत को लूटकर तो अतिलाभ कमाता ही है, पर साथ ही साथ पूँजीवाद का लगातार विस्तृत होता अनुत्पादक चरित्र उत्पादन की दुनिया के बाहर भी मुनाफे की हवस को पूरा करने की जुगत भिड़ता रहता है। सड़ा कारोबार पूँजीवाद के इसी अनुत्पादक चरित्र की एक अभिव्यक्ति है।

— श्वेता

# वज़ीरपुर के मौत और मायूसी के कारखानों में लगातार बढ़ते मज़दूरों की मौत के मामले!

## श्रम कानूनों का नंगा उल्लंघन, मालिक और प्रशासन की मिलीभगत की बलि चढ़ते मज़दूर!

वज़ीरपुर का स्टील उद्योग चमचमाते बर्तन बनाने के लिए मशहूर है, यहाँ ठंडा रोला, गरम रोला, तपाई, फोडाई, एसिड की फैक्ट्रियों में हजारों मज़दूर दिन रात खटते हैं। भट्टी के आगे, तैयारी मशीन पर बिना किसी सुरक्षा उपकरण और गर्मी से बचाव के किसी उपकरण के बिना काम करते हुए आये दिन मज़दूर दुर्घटनाओं का शिकार होते हैं। अभी हाल ही में तैयारी मशीन पर काम करते हुए स्टील की पट्टी में से टुकड़ा छिटक के लगने से दो मज़दूरों की मौत हो गयी। वज़ीरपुर में काम करने वाले मज़दूरों के लिए ऐसी मौतें आम घटनाये बन गयी है। आये दिन या तो किसी मज़दूर की प्रेसिंग मशीन पर काम करते हुए उंगलियां कट जाती है, या पट्टी छिटक कर उनकी हड्डियों तक को भेद जाती है। एसिड की फैक्ट्रियों में काम करने वाले मज़दूरों को बिना किसी गैस मास्क या दस्तानों के नाइट्रिक एसिड जैसे घातक रसायन के साथ न सिर्फ काम करना पड़ता है बल्कि उसके जहरीले धुएँ में सांस भी लेनी पड़ती है जिसके चलते उन्हें फेफड़ों से जुड़ी कई बीमारियों का शिकार होना पड़ता है। पोलिश के मज़दूर दिन भर कला धुंआ फेफड़ों को पिलाते हैं। वज़ीरपुर में काम करने वाले मज़दूरों के सर पर मौत की गिद्ध हमेशा मंडराती रहती है।

लेकिन इन मौतों को बड़ी आसानी से दुर्घटनाओं का नाम दे दिया जाता है और न तो मालिकों के खिलाफ कोई कार्रवाई की जाती है और न ही सुरक्षा के इंतज़ामों को पुख्ता किया जाता है जिससे दोबारा कोई मज़दूर ऐसी मौत का शिकार न हो। यह सब पुलिस प्रशासन, श्रम विभाग और मालिकों की

मिलीभगत से चलने वाला माफिया है।

अगर श्रम कानूनों को सख्ती से लागू किया जाय और सुरक्षा के पुख्ता इंतज़ाम फैक्ट्रियों में मुहैया किये जायें तो ऐसी मौतों को रोका जा सकता है। मगर न तो सरकार की नज़रों में मज़दूरों की जान की कोई कीमत है और न मालिकों के लिए मज़दूर मुनाफ़ा कमाने के साधन से ज्यादा कुछ हैं। पूरे वज़ीरपुर में जिस तरह का काम होता है उसको मद्देनज़र रखते हुए यहाँ 1948 के कारखाना अधिनियम और खतरनाक मशीन (विनियमन) अधिनियम 1983 के प्रावधानों को सख्ती से अमल में लाया जाना बेहद ज़रूरी है। लेकिन देश के बाकी मज़दूर इलाकों की तरह यहाँ भी 8 घण्टे के कार्य दिवस और न्यूनतम वेतन तक का कानून लागू नहीं किया जाता तो ऐसे ख़ास कानूनों को लागू करवाने की अपेक्षा सरकार से रखना बेकार है। कारखाना अधिनियम 1948 के मुताबिक खतरनाक परिस्थितियों में काम करने वाले मज़दूरों को खतरे से बचाव के लिए सुरक्षा उपकरण मुहैया करना कारखानेदार की ज़िम्मेदारी है, उच्च तापमान पर चलने वाली मशीनों और भट्टियों के सामने काम करते हुए विशेष तरह के परिधान मज़दूरों को दिए जाने चाहिए जिसमें बाँड़ी सूट और जूतें शामिल हैं, जहरीली गैसों के आसपास काम करने वाले मज़दूरों को गैस मास्क और आँखों को सुरक्षित रखने के लिए चश्मा दिया जाना चाहिए। रिक़शा चलाने वाले मज़दूरों के लिए भी इस कानून के तहत उतना ही वज़न उठवाया जाना चाहिए जिससे उनकी जान को खतरा न हो और दुर्घटना होने की सम्भावना

न हो लेकिन वज़ीरपुर की सड़कों पर शरीर की क्षमता से अधिक बोझ वाले स्टील की पट्टियों से लदे रिक़शे आये दिन उलटते रहते हैं और रिक़शा खींचने वालों को चोट पहुँचाते रहते हैं। साथ ही वज़ीरपुर में इस्तेमाल की जाने वाली सारी मशीनें और रोलर खतरनाक मशीन (विनियमन) अधिनियम 1983 के अन्तर्गत आते हैं जिसके तहत कारखाना मालिक को ऐसी किसी भी मशीन पर काम करवाने से पहले उसे चलाने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य है जिसे हर पाँच साल बाद श्रम विभाग द्वारा जाँच किये जाने के बाद नवीकृत किया जायेगा और अगर जाँच के दौरान यह पाया जाता है कि सुरक्षा के इंतज़ाम मुफ़ीद नहीं हैं तो लाइसेंस रद्द कर दिया जायेगा। लाइसेंस मिलने के बाद उस मशीन पर काम करने वाले मज़दूर की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी कारखाना मालिक की है। अगर कोई मज़दूर काम करते हुए दुर्घटना का शिकार होता है तो मालिक लेबर इंस्पेक्टर को उस दुर्घटना की सूचना देने के लिए बाध्य है। सूचना मिलने पर लेबर इंस्पेक्टर पहले आकर दुर्घटनास्थल की जाँच करेगा और जब तक जाँच पूरी नहीं होती तब तक फैक्ट्री बंद रहेगी। अगर दुर्घटना में मज़दूर का कोई अंग कट जाता है या उसकी मृत्यु हो जाती है तो मालिक को उसे कानून मुआवज़ा देना पड़ेगा। कागज़ पर लिखे यह सब कानून श्रम विभाग में पड़ी किताबों में धूल खाते रहते हैं और फैक्ट्रियों में मज़दूर लगातार मारने के लिए अभिशप्त हैं। 31 जुलाई 2016 को जब वज़ीरपुर के ए ब्लॉक की एक फैक्ट्री में तैयारी मशीन पर काम करते

हुए पट्टी छिटक के लगने से एक मज़दूर की मौत हो जाती है तो सारे श्रम कानूनों को ताक पर रखते हुए फैक्ट्री मालिक न तो श्रम विभाग को सूचना पहुँचाना ज़रूरी समझता है और न ही पुलिस को इत्तेलाह करता है। उल्टा वह बाकी मज़दूरों को छुट्टी दे देता है और फैक्ट्री परिसर में बहे दुर्घटनाग्रस्त मज़दूर के खून को पानी से साफ़ करवा देता है। पुलिस के आने पर उन्हें पैसा खिला कर आस पास जमा हुए मज़दूरों को भगा दिया जाता है। वही एक दूसरी फैक्ट्री में दुर्घटनाग्रस्त हुए मज़दूर की लाश को पुलिस लावारिस घोषित कर यह एलान कर देती है कि उसे किसी ने फैक्ट्री गेट पर छोड़ दिया! क्योंकि ज्यादातर फैक्ट्रियों में मस्टर रजिस्टर (हाज़री और वेतन का ब्यौरा रखने वाला दस्तावेज़) में सभी मज़दूरों का नाम नहीं लिखा जाता इसीलिए किसी भी ऐसी दुर्घटना के बाद मालिक सबसे पहले उस मज़दूर को पहचानने से ही मुकर जाता है। लेबर कोर्ट में ज्यादातर मामले ऐसे ही होते हैं जहाँ मालिक हर्ज़ाना देने से बचने के लिए मज़दूर को पहचानने से ही इनकार कर देता है। इतना सब होने के बाद न तो इन फैक्ट्रियों की कोई इंस्पेक्शन होती है ना ही मज़दूरों की सुरक्षा के लिए कोई ठोस कदम उठाये जाते हैं। ऐसे पर टिकी इस व्यवस्था में मज़दूर की जान की कीमत बेहद सस्ती है। हैरान करने वाली बात यह है कि पूरे वज़ीरपुर की फैक्ट्रियों की इंस्पेक्शन और जाँच के लिए श्रम विभाग में इस समय केवल एक लेबर इंस्पेक्टर है जिसके अधिकारक्षेत्र में 4 और औद्योगिक इलाक़ों भी आते हैं। यानि की वज़ीरपुर की फैक्ट्रियों में

श्रम कानून लागू होते हैं या नहीं इसकी जाँच करने के लिए सरकार विभाग के पास अफ़सर ही नहीं है। किसी मज़दूर की मौत हो जाने पर मालिक पुलिस को और श्रम विभाग को पैसे खिलाकर उनका मुंह बंद करवा देता है और मृत मज़दूर के परिजनों को कुछ पैसे देकर मामला रफा दफ़ा कर देता है। यह सब वज़ीरपुर जैसे औद्योगिक इलाकों में होने वाली आम घटनाएं हैं। और इसका एक बहुत बड़ा कारण जहाँ मालिकों, पुलिस प्रशासन की मिलीभगत है वही इसके ज़िम्मेदार कहीं न कहीं मज़दूर भी है जो अपने साथियों की रोज़ होती मौतों और दुर्घटनाओं के खिलाफ़ आवाज़ उठाने के लिए एकजुट नहीं होते। कानून में लिखे सभी श्रम कानून मज़दूरों द्वारा की गयी कुर्बानियों का नतीजा है। यह कानून किसी नेक दिल धन्नासेठ या पूँजीपति ने नहीं लिखे बल्कि मज़दूरों ने अपने जुझारू संघर्ष से हासिल किये थे। लेकिन इस पूरी व्यवस्था के भीतर मज़दूरों को मिली कोई भी जीत अधूरी ही रहती है इसीलिए कागज़ पर सारे प्रावधान होने के बावजूद ज़मीनी हकीकत कुछ और ही है। आज भारत के विकास के लिए 'मेक इन इन्डिया' जैसी योजनाओं का ढोल पीटा जा रहा है लेकिन उत्पादन की प्रक्रिया से जुड़े मज़दूरों से उनका एक एक हक छीना जा रहा है। वज़ीरपुर में आये दिन होती मौतें, मौतें नहीं बल्कि हत्याएं हैं और मज़दूरों के खून से सने हाथों से मालिक अपनी तिजोरियों में नोट भर रहे हैं।

— सिमरन

## सारण (बिहार) में साम्प्रदायिक उत्पात

अगस्त में बिहार के सारण ज़िले में साम्प्रदायिक तनाव इस क़दर फैलने लगा कि चार दिन में सैकड़ों दुकानों और मकानों पर पत्थर फेंके गए; मुस्लिमों को डराने का कार्य भी हिन्दूवादी समूहों के द्वारा किया गया। अगस्त की शुरुआत में सारण के मकेर प्रखंड से व्हाट्सएप पर कुछ चित्र और वीडियो सामने आए, जिनमें एक मुस्लिम युवक द्वारा देवी देवताओं के चित्र के साथ अशोभनीय हरकत दिखायी गयी थी। हमारी सरकारों और पुलिस जिस तरह जनजीवन को बर्बाद करना चाहती हैं, उसका उदाहरण यहाँ भी दिखा। परसा और मकेर थाने में लोगों ने शिकायत की, लेकिन पुलिस ने इस मुद्दे की संवेदनशीलता को समझना ज़रूरी नहीं समझा। 5 अगस्त को अचानक आगजनी, बंद जैसे कारनामे शुरू हो गए। यह समझना मुश्किल नहीं है कि इस किस्म के कारनामे धार्मिक उग्रवादियों ने मुस्लिम समुदाय को डराने के लिए किए। पूरा ज़िला जलने लगा, धारा 144 पूरे ज़िले में लागू कर दी गई। इधर आरोपी के घर तोड़-फोड़ की गई, घर भी जलाया गया। कई बाज़ार बंद हो गए। पुलिस ने लाठियाँ भी भाजीं।

ज़िलाधिकारी ने इंटरनेट सेवा की तीव्रता और सोशल मीडिया की ताकत को देखते हुए सोशल नेटवर्किंग साइटों पर रोक लगा दिया। इतना कुछ हो रहा हो, तो विहिप, बजरंग दल, अभाविप जैसे संगठन पीछे रहें, यह तो हो नहीं सकता था। बजरंग दल ने मशाल जुलूस निकाला। इन संगठनों ने 6 अगस्त को ज़िला बंद का आह्वान किया। मद्दौरा में भगवा झंडे लहराती मोटरसाइकिलें और जय श्रीराम के नारे ने सबको डरा दिया। मुस्लिमों की दुकानों पर पत्थर फेंके गए, कई के फ्लेक्स फाड़े गए, शीशे भी तोड़े गए। जो पिछले कई दशक से दुकानदार था, सामान्य जीवन गुज़ार रहा था, अचानक वह धर्म के आधार पर भेदभाव का शिकार होने की आशंका से घिर गया; मुस्लिम हो चला। कई लोगों से बातचीत में यह भी पता चला कि हिन्दू नौजवान अपनी ऊर्जा धार्मिक ध्रुवीकरण में, समुदाय विशेष को गाली देने, उनकी भावनाओं को चोट पहुँचाने में खपा रहे थे। फासीवादी दलों का किस क़दर असर नयी पीढ़ी पर है, यह इससे भी पता चलता है कि एक युवक ने साफ़ कहा कि हिन्दू-मुस्लिम की बात होगी,

तो हम जाएंगे ही। ज़िले की कई मस्जिदों में बड़ी संख्या में हिन्दुओं ने जाकर हल्ला मचाया, तोड़-फोड़ भी की। कई गाड़ियों के तोड़े जाने की भी बात सुनने को मिली।

ज़िले में आइटीबीपी ने दौड़ा कर महिलाओं और बच्चों को भी पीटा। 40 से ज्यादा अफसर ज़िले में तैनात कर दिए गए। पुलिस ने आँसू गैस के गोले दागे, पैलेट गन भी चलाई। देखते देखते यह सब कुछ ज़िले के दूसरे प्रखंडों में फैलता चला गया। इसी में लूटपाट भी हुई। पुलिस ने किसी को पकड़ लिया, तो लोगों ने हंगामा किया और उपद्रवियों को छोड़ भी दिया गया। कई अफसर घायल हुए। स्थानीय पत्रकार को इस हंगामे की तस्वीर लेने के बाद डिलीट करने को कहा गया और रिपोर्टिंग में सच न लिखने को भी कहा गया, वैसे पत्रकार भी हिन्दूवादी रुझान का ही होगा। सिवान, गोपालगंज, वैशाली में भी नेट पर पाबंदी लगा दी गई। पानापुर, एकमा में दर्जनों गाड़ियों को क्षति पहुँचाई गई। स्कूल बंद रहे। सात-आठ दिन में 36 से ज्यादा प्राथमिकी दर्ज हुई और 100 से ज्यादा गिरफ्तार किए गए।

इस घटना पर राष्ट्रीय मीडिया में चर्चा नहीं के बराबर हुई। इसे उत्तरप्रदेश के निकटवर्ती ज़िले के कारण उत्तरप्रदेश के आगामी चुनाव के लिए फायदेमंद मानना भी ग़लत नहीं होगा। इससे फायदा हिन्दूवादी दल ही लेगा, क्योंकि बिहार के इन ज़िलों के हजारों लोगों के रिश्ते उत्तरप्रदेश में हैं और धार्मिक भावनाओं के आधार पर वोटों का ध्रुवीकरण होना मुश्किल भी नहीं है। मद्दौरा प्रखंड में तो यह भी सुनने को मिला कि सड़कों पर मुस्लिम महिलाओं के बुरके हटवाए गए; मोटरसाइकिल सवार अगर मुस्लिम लगा, तो उसे रोककर जय श्री राम बोलने को कहा गया। ऐसा नहीं कि मुस्लिम वर्ग एकदम चुप रहा, लेकिन हिन्दुओं की तरह उसने शांति खत्म करने की ऐसी कोशिश नहीं की। कहीं-कहीं प्रतिकार ज़रूर किया, जवाबी हमले भी किए। हालांकि पुलिस और प्रशासन ने कुल मिलाकर बाद में नियंत्रण बना लिया। बिहार गुजरात तो नहीं बन सकता! मंदिर के पुजारी और हिन्दू युवा मिलकर किसी मस्जिद में किताबें फाड़ दें, तोड़ फोड़ कर दें, मूत्र विसर्जन तक कर दें, तो समाज की दिशा

का पता तो चलता ही है! ऐसा लगता है कि आरोपी मुस्लिम युवक ने मजाक समझ कर जो हरकत की, वह इतना गंभीर रूप ले लेगी, इसका उसे अंदाजा नहीं था। बाद में उसने आत्मसमर्पण कर दिया, पुलिस छपरा ले आई। सोशल मीडिया पर गाली गलौज और उन्माद छाया रहता है, इससे बचना ज़रूरी है। खास तौर पर हिन्दूवादी जिनके रहुनुमा पूँजीपतियों के चाकर हैं, ऐसी बातों, अफवाहों को हवा देने में माहिर हैं। उनसे और अन्य धर्मों के कट्टरपंथियों से बचें। धर्म या समुदाय पर आधारित ऐसी चीज़ें हमेशा अफीम की तरह ही होती हैं। आम जनता यह नहीं समझेगी, तो डर, नफरत और मौत का खेल सबको दफन कर देगा।

हर मोर्चे पर नाकाम मोदी सरकार और संघ परिवार के संगठन किसी भी ऐसी घटना की ताक में रहते हैं जिसका लाभ उठाकर वे साम्प्रदायिक आधार पर नफरत फैला सकें। इनका भण्डाफोड़ करना होगा और इनकी साज़िशों से लोगों को सावधान करना होगा।

— चंदन कुमार मिश्र

## पंजाब सरकार एक और काला कानून 'पकोका' लाने की तैयारी में गुण्डागर्दी बहाना है! जन संघर्ष निशाना है!

विश्व का सब से बड़ा 1,46,385 शब्दों वाला लंबा-चौड़ा भारतीय संविधान पंजाबी कवि पाश के कहने अनुसार आम लोगों के लिए मर चुकी हुई किताब से ज्यादा कुछ भी नहीं है। 66 साल से भी ज्यादा समय में लागू हुए संविधान से अब लोगों के लिए समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्त, विश्वास, धर्म और पूजा की आजादी, इज्जत जैसे मौकों पर बराबरी का राग और नहीं अलापा जा सकता। पिछले 66 वर्षों में साफ हो गया कि यह संविधान पूँजीपति वर्ग की सेवादार है और भारतीय हुक्मरानों के लिए राज करने का एक औजार है। 26 जनवरी, 1950 से अब तक संविधान में कितने ही बदलाव किए जा चुके हैं। कई धाराएं शामिल की गईं, संशोधन किए गए और भंग किए गए पर देश की आधी से ज्यादा आबादी देश के मेहनतकश लोगों की हालत गिरावट की ओर जा रही है। आज भारत की सरकार के पास ना तो लोगों के लिए स्वास्थ्य सहूलतें, शिक्षा और रोजगार है और ऊपर से सारी सरकारी संस्थाओं का लगातार निजी हाथों में दिए जाने मेहनतकश लोगों को रोजाना जीवन की सहूलतों से भी वंचित कर रहा है और आज अल्पसंख्यकों के आर्थिक और समाजिक स्तर को काफी गिरा दिया है।

जिस देश की आधी से ज्यादा आबादी यानी 77% रोजाना 20 रुपए दिहाड़ी पर गुजारा करती है, 3000 बच्चे रोज भूख से मरते हैं, 32 करोड़ लोग भूखे सोते हो और 30 करोड़ लोग बेरोजगार हो वहां लोगों का सरकार खिलाफ रोष जाहिर हो और अपनी मांगों को लेकर सरकार खिलाफ संघर्ष करना अनिवार्य है।

सोचा जाये तो अब सरकार लोगों की मांगों मस्लों का हल कैसे निकाले, फिर सरकार कानून का सहारा लेती हैं और ऐसे कानून बनाती है जिस से लोगों के रोष को दबाया जा सके और संघर्षों को कुचला जा सके। इसी मकसद से पंजाब सरकार गुंडागर्दी और अपराधों को काबू पाने के बहाने लोगों की थोड़ी बहुत आजादी को भी छीनने का एक और नया बहाना ढूंढ कर ले आई। पंजाब सरकार बीती 12 जुलाई को विधान सभा में पकोका (पंजाब ऑरगनाइज्ड क्राइम कंट्रोल एक्ट) बारे विचार कर चुकी है। भले फिलहाल ऐसा सख्त कानून विधान सभा चुनावों के लिए मंहगा होने के डर से इसको अनुमति नहीं मिली है पर अनिवार्य है कि आने वाले समय में इसको सरकार जरूर ले कर आएगी।

आइये ज़रा जान लें कि यह कानून क्या कहता है?

-सरकार को गैंगस्टर या और

अपराधियों को एक या दो साल तक बिना जमानत नज़रबंद रखे जाने का अधिकार है।

-किसी भी दोषी की ओर से डी.एस.पी स्तर के अधिकारी सामने दिए गए बयान को ही सही मानने की भी धारा है।

- बंद कमरे में अदालती कारवाई और विशेष अदालतें बनाने का अधिकार है।

-दोष सिद्ध होने के बाद 5 वर्ष से उमर कैद या फंसी तक की सज़ा और 1 से 5 लाख का जुर्माना।

- यह बिल डी.जी.आई या इस से ऊपरली पदवी के अधिकारी को किसी भी पकोका अपराधी को इस की धाराओं से बाहर करने का अधिकार भी देता है।

- पुलिस द्वारा इकट्ठे किए सारे इलैक्ट्रॉनिक सबूतों को 10 वर्ष तक गवाह के तौर पर मानने का अधिकार है।

अर्थात् किसी भी नागरिक को पुलिस प्रशासन इस कानून के आधार पर अपराधी करार दे कर उसको सज़ा दे सकता है। स्पष्ट है कि सरकार खिलाफ उठ रहे संघर्षों को सरकार पहले ही अपराध अफसपा, पंजाब सुरक्षा कानून, निजी और लोक संपत्ति नुकसान रोकथाम बिल तहत बताती है और इन अपराधों को कंट्रोल करना ही ऐसे कानून बनाए जाने का मुख्य मकसद है। साफ दिखता है कि सरकार

की क्या मंशा है, बेरोजगारी, मंहगाई, भ्रष्टाचार और जात-पाती दबाव का कोई हल नहीं है। इसीलिए सरकार अब लोक रोष को कानून के दम पर ही दबा सकाती है। पंजाब सरकार इसी साज़िश तहत पिछले वर्ष ही निजी और लोक संपत्ति नुकसान रोकथाम कानून पास कर चुकी है, जो लोगों के सरकार विरुद्ध अपने विचार प्रकट करने की बुनियादी अधिकार भी छीनता है।

इसके तथ्य भी किसी से लुके हुए नहीं हैं कि गुण्डे गिरोह तो सरकार की शह पर ही पलती है। मिसाल के तौर पर भारतीय संसद में बैठे भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधि की संख्या 543 है जिनमें से 186 पर अपराधिक मुकदमे दर्ज हैं, जिसमें कत्ल, या कत्ल करने की कोशिश, दंगे भड़काने, अगवा करने और औरतों के विरुद्ध अपराध के मामले हैं। अपनी पंजाब सरकार की बात करें तो बादल सरकार की निजी ऑरबिट बस सर्विस पर 2012 से लेकर अब तक अखबारी खबरों के अनुसार 26 से अधिक गुण्डागर्दी के केस दर्ज हो चुके हैं और पिछले वर्ष 30 अप्रैल को मोगा में 13 वर्ष की अर्षदीप और उसकी मां को बस स्टाफ द्वारा बस में से धक्का मारने की घटना को कौन भूल सकता है। जिस देश का हर तीसरा संसदी सदस्य ही अपराधी हो उनसे हम आस ही क्या रख

सकते हैं कि यह गुण्डागर्दी या अपराधों के लिए कभी संवेदनशील होंगे। दूसरे, यह कानून सरकार ने मकोका (महाराष्ट्र ऑरगनाइज्ड क्राइम कंट्रोल एक्ट) की तर्ज पर बनाया है जो पहले महाराष्ट्र सरकार ने 1999 से लागू किया हुआ है और हैरानी की बात तो यह है कि एन.सी.आर.बी (19अगस्त,2015) की रिपोर्ट अनुसार महाराष्ट्र अपराध और गुण्डागर्दी के एक वर्ष में 2,49,834 दर्ज मामलों के साथ देश का दूसरा सब से ज्यादा अपराधों वाला राज्य रहा है। पंजाब सरकार के पकोका आने के साथ भी गुण्डा गिरोहों का ही भला होगा।

इससे साफ जाहिर होता है कि सरकार असुरक्षा के डर से भविष्य की तैयारी के लिए लोगों की सरकार खिलाफ आवाज़ को दबाने के लिए सीधा लोगों को ही अपराधी करार देकर उनकी आवाज़ हमेशा के लिए बंद करने वाले काले कानून को लोगों पर सुरक्षा के नाम से थोपना चाहती है। इसलिए हमें अपने जनवादी हकों की रक्षा के लिए सरकार द्वारा विचारे जा रहे इस काले कानून का डट कर विरोध करना चाहिए।

- बिन्नी

## अभी भी पंजाब में लड़कियों के साथ भेद-भाव बड़े स्तर पर जारी

पंजाब भारत के उन राज्यों में से एक है जहां औरत को पैर की जूती, चूल्हे-चौंके का काम संभालने वाली एक गुलाम समझने की जमींदारी वाली मानसिकता काफी पसरी हुई है। यह तो अकसर ही कहा जाता है कि पंजाब में हीर गई भी जाती है और मारी भी जाती है, पर यहां हीर पैदा होने से लेकर ज़िंदगी के हर कदम पर भेद-भाव का शिकार होती हैं। भले पिछले दशकों में हुए पूँजीवादी विकास के साथ पंजाब में औरतों को घर से बाहर निकल कर पढ़ने, काम-काज करने के मौके मिले हैं पर इसके बावजूद भी औरतों के साथ यहां बड़े स्तर पर भेद-भाव मौजूद है। लड़कियों को पढ़ाने और नौकरी करने देने का कारण अभी भी औरतों को सम्मान या बराबरी का दर्जा देना नहीं बल्कि अभी भी इसका एक बड़ा कारण यही है कि विवाह के रूप में होते सौदों में उसकी पढ़ाई, रोजगार के साथ उसका अच्छा सौदा हो सके। लड़कियों के पैदा होने, पालन-पोषण से लेकर उनके स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार और विवाह आदि सब मामलों में राज्य की हालत अभी भी तरसयोग्य है। लड़की पैदा होने पर पंजाब में अभी भी लोगों के मुंह सूज जाते हैं और मातम का माहौल बन जाता है। लड़कियों को पैदा होने से पहले ही मारना अभी भी मौजूद है। परिवार में होते भेद-भाव के साथ बचपन से ही लड़कियों को दबाना और लड़के को लाडला, मनमर्ज़ी करने वाला बना कर पाला जाता है, बाद में ये

लड़कियां बड़ी होकर अपने साथ होते भेद-भाव खिलाफ बोलने लायक नहीं रह जाती और लाडले लड़कों के लिए औरतें सारी ज़िन्दगी खिलौना या सेवा करने वाली गुलाम बनी रहती हैं।

किसी रोजगार पर लगी औरतों को भी अनेकों तरह के भेद-भाव का सामना करना पड़ता है। औरतों को कम मौके देना, कम तनख्वाह देना, मानसिक तौर पर परेशान किए जाना और छेड़छाड़ आदि लगभग हर नौकरी करने वाली औरत के हिस्से आता है। इसके साथ ही नौकरी करने के साथ साथ घर के काम भी औरत को ही करने पड़ते हैं और उस पर दुगुना कामों का बोझ आ जाता है। सुबह सफाई, रसोई और बच्चों को तैयार करने के काम करने के बाद ही औरत नौकरी पर जाती है। जब शाम को पति-पत्नी कामों से वापिस आते हैं तो थका हुआ पति सोफे पर पैर पसार कर पानी का गिलास भी मांगता है और औरत घर के बाकी कामों में वयस्त हो जाती है।

जुलाई महीने पंजाब बारे सैंपल रजिस्ट्रेशन सर्वेक्षण के जारी हुए आंकड़े राज्य में लड़कियों के साथ बड़े स्तर पर होते भेद-भाव की गवाही भरते हैं। इस सर्वेक्षण अनुसार पंजाब की हालत भारत के ज्यादातर राज्यों से बुरी है। पंजाब ना सिर्फ मुकाबले में विकसित राज्यों से पीछे है बल्कि उत्तर-प्रदेश, बिहार जैसे पिछड़े राज्यों से भी पंजाब का बुरा हाल है। इन में से कुछ अहम

आंकड़े इस तरह हैं:-

1. 5 वर्ष से कम उमर में बच्चों की मौत की दर में लड़के से लड़की की मौत दर में 10 अंकों का फर्क है, जबकि भारत स्तर पर यह फर्क 2 अंकों का है। पंजाब में हर 27 में से एक लड़की और हर 38 में से एक लड़का 5 वर्ष से कम उमर में मर जाता है।

2. मानवीय विकास सूचक अंक में पंजाब का 4 स्थान है पर लिंग आधारित विकास सूचक अंक में इसका स्थान 16 वां है।

3. भारत में प्रति औरत बच्चे पैदा करने की दर 2.1 है, पर पंजाब में यह 1.7 है। यह लगता है कि पंजाब में कम बच्चे पैदा करके परिवार नियोजन किया जाता है, पर यह परिवार नियोजन असल में लिंग नियोजन है। पंजाब में 2001 में लिंग अनुपात 874/1000 था और बच्चों 0-6 वर्ष में यह 798/1000 था। 2011 में भले कुछ सुधार आया है और लिंग अनुपात 893/ 1000 है और बच्चों में यह 846/1000 है। पर अभी भी यह देश स्तर की दर 940/1000 से भी कम है।

पंजाब सरकार के आंकड़े भी कुछ इस तरह की ही तस्वीर बयान करते हैं।

1. 38 फीसदी औरतों में खून की कमी से पीड़ित हैं।

2. 2011 की जनगणना अनुसार काम करने वाली औरतों की गिनती सिर्फ 12 फीसदी है।

3. राज्य में औरतों की साक्षरता दर

70.7 फीसदी है जबकि मर्दों के लिए यह 80.4 फीसदी है। होशियारपुर में औरतों की साक्षरता दर सब से अधिक 80.3 फीसदी है और मानसा में सब से कम 55.7 है।

4. पंजाब में सरकारी नौकरीयां हैं 2,71,000 हैं पर इनमें से औरतें सिर्फ 25.4 फीसदी हैं।

5. पंजाब विधानसभा की 117 सीटों में से सिर्फ 14 औरतों के पास हैं।

6. पंचायती स्तर पर भी 28 फीसदी औरतें सदस्य पंचायत और 29.8 फीसदी पंचायत में औरतों की यह भागीदारी नाम की ही है, ज्यादातर मामलों में औरतों के पति ही उनकी पदवी संभालते हैं।

7. औरतों के खिलाफ होते जुर्मों में 42.19 फीसदी मामले दहेज कारण कत्ल, 17.93 फीसदी अगवा और 13.67 फीसदी बलात्कार के हैं। पर छेड़छाड़ और बलात्कार के ज्यादातर मामले दर्ज नहीं होते।

पंजाब और केन्द्र सरकार की ओर से कन्या जागृति ज्योति सक्ती, रक्षा योजना, धनलक्ष्मी योजना, बीबी नानकी लाडली बेटी कल्याण योजना, शगुन स्कीम जैसी अनेकों योजनाएं चला जा रही हैं जो सफेद हाथी साबित हो रही हैं। इनमें से बहुत सिर्फ दिखावा बनकर रह चुकी हैं, कईयों के बारे आम लोगों को कोई जानकारी ही नहीं है और कईयों के तहत लड़कियों को जरूरत की सहायता पहुंचती ही नहीं बल्कि सारा

धन नौकरशाही के पेट में चला जाता है। बल्कि सही कहना हो तो पंजाब में लड़कियों के यह बुरी हालत लीडरों, नौकरशाहों के लिए दावत का ही काम कर रही है जिनके नाम पर चलती योजनाओं के सिर उनके राजनीति चलती है, घपलेबाज़ी होती है।

पंजाब की इस बोलती तस्वीर से स्पष्ट है कि पंजाब में औरत विरोधी मानसिकता और भेद-भाव खिलाफ अभी तक एक लम्बी लड़ाई की जरूरत है। यह काम ना तो मौजूदा सरकारें करेंगी और ना ही उनके बस का ही है। इसके लिए औरतों को ही अपनी मज़बूत लहर बनानी पड़ेगी और इसको मेहनती लोगों की मुक्ति की लहर के साथ जोड़ना पड़ेगा।

- रोशन



## कारखाना (संशोधन) विधेयक 2016: "अच्छे दिनों" में मज़दूरों को एक और सौगात !

मज़दूरों से किये वायदों को पूरा करने के बजाय एक बार फिर मोदी सरकार ने भोंका मज़दूरों की पीठ में छुरा !

11 अगस्त 2016 को मोदी सरकार ने 1948 के कारखाना अधिनियम में संशोधन हेतु प्रस्तावित किये कारखाना (संशोधन) विधेयक 2016 को लोक सभा में पारित कर दिया जिसके तहत अब कारखानेदार मज़दूरों से कानूनन दुगना ओवरटाइम करवा सकते हैं। इस संशोधन के मुताबिक पहले के तीन महीने में 50 घण्टे के ओवरटाइम के कानून के मुकाबले अब मज़दूरों से 100 घण्टे ओवरटाइम करवाया जा सकता है यानि की अब मालिक पूरे साल भर में मज़दूरों से 400 घण्टे का ओवरटाइम करवा सकता है। जहाँ अधिकतर फैक्टरियों में आज 8 घण्टे के कार्य दिवस के कानून को लागू नहीं किया जाता और मज़दूरों से ज़बरन नौकरी से निकाल देने की धमकी के ज़ोर पर बिना भुगतान ओवरटाइम करवाया जाता है वहाँ इस विधेयक के बाद जो थोड़ी बहुत जवाबदेही फैक्टरी मालिकों की कानूनी तौर पर बनती थी उससे भी उन्हें मुक्ति दे दी गयी है। ताकि अब वह जैसे चाहे मज़दूरों का खून चूस सके। केंद्रीय श्रम मंत्री बंडारू दत्तात्रेय ने इस विधेयक की पैरवी करते हुए कहा कि कारखाना अधिनियम में यह संशोधन मज़दूरों को अधिक काम करने और अधिक पैसा कमाने का अवसर देगा। साथ ही उन्होंने कहा कि व्यापार करने की प्रक्रिया को और सुगम बना कर रोज़गार के नए अवसर पैदा होंगे और इसके साथ उन्होंने कहा कि किसी भी हाल में एक दिन के कार्य दिवस की अवधि 10 घण्टे से ज्यादा नहीं होंगी। दत्तात्रेय ने यह भी कहा कि मोदी सरकार की 'मेक इन इण्डिया', 'स्किल इंडिया' और 'डिजिटल इंडिया' जैसी योजनाओं को देखते हुए यह संशोधन बेहद ज़रूरी बन गया है क्योंकि आज हमें इन योजनाओं के लिए बड़ी संख्या में मज़दूरों की ज़रूरत है। इस संशोधन के नंगे तौर पर मज़दूर विरोधी चरित्र को ढकने की नाकामयाब कोशिश करते हुए दत्तात्रेय

साहब ने कहा कि ओवरटाइम का कानून मज़दूरों के लिए अनिवार्य नहीं है यह तो उनके लिए दुगनी तनख्वाह कमाने का मौका है। जिन मज़दूरों को अच्छे दिनों के सपने दिखा कर, महंगाई, बेरोज़गारी खत्म करने के वादें कर मोदी सरकार ने वोट बटोरे थे आज एक एक कर उनसे किये वादों से सरकार मुक्त रही है और बस इतना ही नहीं बल्कि घोर मज़दूर विरोधी कानून और नितियां लागू कर उनकी ज़िन्दगी को नरक से बदतर बना रही है। श्रम मंत्री के इस अधिनियम के पक्ष में किये तर्कों से ही मोदी सरकार का मज़दूर विरोधी चरित्र बेनकाब हो जाता है। जिस बेशर्मी से जनता के चुने हुए नेता मंत्री संसद में बैठ कर यह कहते हैं कि एक दिन की कार्य दिवस की अवधि 10 घण्टे से अधिक नहीं होंगी उसी से मालूम पड़ जाता है कि इन्हें मज़दूर वर्ग की ज़िन्दगी के हालात के बारे में कितना कुछ या कहे कि कुछ भी मालूम है। दिल्ली के वज़ीरपुर की स्टील फैक्टरियों में खतरनाक परिस्थितियों में 12-12 घंटे काम करने के बावजूद मज़दूरों को ओवरटाइम तो दूर न्यूनतम वेतन तक नहीं मिलता, गुडगाँव, बावल, दारूहेड़ा की ऑटोमोबाइल पट्टी में भी ठेके पर काम कर रहे कैजुअल मज़दूरों का भी यही हाल है, पीरागाड़ी की चपल बनाने वाली या पंजाब के लुधियाना की टेक्सटाइल फैक्टरियों की भी यही हालत है। इस बात को समझ पाना कितना मुश्किल है कि जिन फैक्टरियों में पहले से ही मज़दूरों से 12-12 घण्टे काम करवाया जाता है वहाँ ऐसे मज़दूर विरोधी संशोधन किस कदर खतरनाक साबित होंगे। 1948 के कारखाना अधिनियम के मुताबिक जिस कारखाने में बिजली का उपयोग करते हुए एक साल में 10 मज़दूर या बिना बिजली के 20 मज़दूर उत्पादन की प्रक्रिया में हिस्सेदारी करते हैं उसे कारखाना माना जायेगा। जिसके मुताबिक ओवरटाइम का यह कानून आज अधिकतर छोटी-बड़ी फैक्टरियों

पर लागू होता है। अभी इस विधेयक को राज्य सभा में पेश किया जाना बाकी है लेकिन राज्य सभा से भी कुछ उम्मीद लगाना बेकार है। 1948 के कारखाना अधिनियम में इस संशोधन को मिलकर कुल 8 बार बदलाव किये जा चुके हैं। इस कानून में आखरी बदलाव 1987 में 1984 में हुई भोपाल गैस त्रासदी के बाद किया गया था जिसके तहत जिन फैक्टरियों में खतरनाक रसायनों या पदार्थों का उत्पादन में इस्तेमाल किया



जाता है वहाँ मज़दूरों को सुरक्षा के इंतजाम मुहैया कराना फैक्टरी मालिकों की ज़िम्मेदारी है लेकिन यह भी सिर्फ कागज़ पर लिखा कानून ही बन कर रहा। आज अगर दिल्ली के वज़ीरपुर की फैक्टरियों में उत्पादन की प्रक्रिया पर नज़र डाली जाय तो साफ़ हो जायेगा कि किस तरह इस कानून का हर रोज़ मखौल उड़ाया जाता है। मोदी सरकार ने 16वें लोक सभा चुनाव में जीत हासिल करने के साथ ही अपने आकाओं अम्बानी और अडानी को अपनी वफ़ादारी का सबूत पेश करते हुए 7 अगस्त 2014 को कारखाना (संशोधन) विधेयक लोक सभा में पेश किया था लेकिन विधेयक के प्रस्तावों पर गौर करने के लिए उसे स्थायी समिति के पास भेजा गया था। तब पेश किये गए प्रस्तावों में कुछ प्रस्ताव मज़दूरों को लुभाने के लिए भी थे जैसे कि खतरनाक परिस्थितियों में

काम करने वाले मज़दूरों को सुरक्षा के उपकरण मुहैया करवाना, जेहेरली गैसों और रसायनों के साथ काम करते समय ख़ास सुरक्षा इंतजाम लागू करवाना, महिलाओं का पहले के कानून के मुताबिक चलती मशीनों पर काम करने की मनाही को हटाने आदि। लेकिन ओवरटाइम को बढ़ाने के प्रावधान को पास करवाने के लिए स्थायी समिति की रिपोर्ट पर बहस होने का इंतज़ार मोदी सरकार नहीं कर पायी और इस साल 11

यह सब करने की बजाये मोदी सरकार बेंगलुरु की कपडा उद्योग में काम कर रही महिलाओं से उनका पी.एफ. छीनने की कोशिश करती है जिसके बाद महिलाओं के गुस्से से फूटे विरोध प्रदर्शन के बाद सरकार को होश आती है। श्रम कानूनों को सख्ती से लागू करवाया जा सके इसके लिए श्रम विभाग को सशक्त करने के बजाय मोदी जी लेबर इंस्पेक्टर की पोस्ट को खत्म करने की बेतुकी बात करते हैं। विदेशों में 'मेक इन इण्डिया' यानि की 'आओं भारत के मज़दूरों की सस्ती श्रम शक्ति को लूट के मुनाफ़ा कमाओं' की योजना जिसे मोदी जी पिछले दो साल से प्रचारित कर रहे हैं उसके तहत विदेशी पूँजी को लुभाने की यह एक और कवायद है।

मोदी सरकार का मज़दूर विरोधी चेहरा अब जनता के सामने साफ़ हो चुका है लेकिन मज़दूरों के असंगठित होने और तमाम चुनावी पार्टियों से सम्बद्ध दलाल ट्रेड यूनियनों के कारण मज़दूर विरोधी कानून न सिर्फ़ संसद विधान सभाओं में पेश किये जाते हैं बल्कि बिना किसी असली विरोध के पारित भी कर दिए जाते हैं। आज के फ़ासीवाद के उभार के दौर में जहाँ धार्मिक कट्टरपंथी धर्म और जाति के नाम पर जनता को बाँट रहे हैं वहाँ इस सब उन्माद को पैदा करने वाले फ़ासीवादी पूँजीवाद को उसके संकट से बाहर निकालने के लिए ऐसे घोर मज़दूर विरोधी कानून पारित करवा रहे हैं। ताकि मज़दूरों के अति-शोषण से अर्जित मुनाफ़े से पूँजीवाद अपने संकट से उभर पाए। देश का विकास, अच्छे दिन यह सब बस जुमले हैं वास्तव में यह विकास मालिकों और पूँजीपतियों का विकास है और अच्छे दिन भी उन्हीं के लिए आये हैं।

— सिमरन

## पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी

(पेज 16 से आगे)

करवाना चाहे तो ज़रूर उसकी जेब तराशने में कोई कसर नहीं छोड़ते।

ख़ैर बात करते हैं दवा उद्योग की। स्वास्थ्य सेवाएँ बिना दवा के नहीं हो सकती। अतः इसके साथ दवाओं के गोरखधंधे का जिक्र करना भी ज़रूरी है। विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के अनुसार भारत सहित तमाम विकासशील देशों की गरीब जनता महंगी दवाएँ लेने पर मजबूर है। विश्व व्यापार संगठन का एक समझौता है जो "बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार-सम्बन्धी सम्बन्धी पहलुओं" पर आधारित है। अंग्रेज़ी में इसको TRIPS कहा जाता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के सभी सदस्यों के लिए इसको मानना अनिवार्य है। इस समझौते के अनुसार किसी भी कंपनी को अपने

पेटेंट का अधिकार 20 वर्ष तक मिलता है। मतलब सम्बन्धित दवा बनाने और बेचने के सर्वाधिकार उस कंपनी के पास 20 साल तक रहते हैं। कहने को तो इसमें एक अनुच्छेद यह भी है कि किसी आपात स्थिति में कोई सरकार पेटेंट दवा के सस्ते घरेलू उत्पादन को छूट दे सकती है लेकिन जब भी कोई देश ऐसा करने की कोशिश करता है तो अमेरिका या अन्य साम्राज्यवादी देश उस देश पर या तो आर्थिक प्रतिबन्ध लगा देते हैं या उससे व्यापार सम्बन्ध तोड़ लेते हैं या फिर उसको निगरानी सूचि में डाल देते हैं। इसके चलते भारत सरकार ने भी अपना 1970 का पेटेंट एक्ट भी 2005 में बदल दिया है। 2005 से पहले पुराने एक्ट के चलते भारत में सस्ती जेनेरिक दवाओं के उत्पादन में कुछ हद तक छूट थी जो

किसी हद तक देश की गरीब जनता को सस्ती दवाएँ मुहैया कराने में मददगार था। अब न केवल पेटेंटेड दवाएँ महंगी मिलती हैं, बल्कि इन पेटेंटेड दवाओं पर "ड्रग प्राइस कंट्रोल आर्डर", जो दवाओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखता है, भी लागू नहीं होता। ऐसे में अब हालत ये है कि अधिकतर ज़रूरी दवाएँ आम आदमी कि पहुँच से बाहर हैं।

अब अगर डॉक्टरों की बात की जाये तो भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में डॉक्टरों की भारी कमी का आलम ये है कि भारत में दस हजार की आबादी पर सरकारी और प्राइवेट मिलाकर कुल डॉक्टर ही 7 हैं और अगर अस्पतालों में बिस्तरों की बात करें तो दस हजार की आबादी पर सिर्फ़ 9 बिस्तर मौजूद हैं। इस पर भी उदारीकरण और निजीकरण

के चलते इन सीमित डॉक्टरों और स्वास्थ्य सेवाओं का केन्द्रीकरण भी शहरों में ही सीमित हो कर रह गया है। एक अध्ययन के अनुसार भारत में 75 प्रतिशत डिस्पेंसरियाँ, 60 प्रतिशत अस्पताल और 80 प्रतिशत डॉक्टर शहरों में हैं जहाँ भारत की केवल 28 आबादी निवास करती है। भारत में आयु संभाव्यता 68 साल है जो "ब्रिक्स" के देशों में सबसे कम है। भारत के ग्रामीण इलाकों में 5 किमी की जद में कोई बिस्तर वाला अस्पताल केवल 37 प्रतिशत लोगों की पहुँच में है। और 68 प्रतिशत लोगों की पहुँच किसी ओपीडी तक है। ऐसे में गाँव की गरीब आबादी को इलाज मिल ही नहीं पाता है और शहरों में भी इलाज का खर्च सिर्फ़ अमीर ही उठा पाते हैं।

इस प्रकार हम साफ़ देख सकते हैं कि मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था ने किस तरह से हर चीज़ की तरह स्वास्थ्य और मानव जीवन को भी एक माल बना दिया है। उदारीकरण और भूमंडलीकरण के लागू होने के बाद से स्वास्थ्य सेवाओं की हालत बद से बदतर होते जा रही है और यह तब तक जारी रहेगा जब तक पूँजीवादी व्यवस्था कायम रहेगी। ऐसे में यह बेहद ज़रूरी है कि पूँजीवाद को खत्म करके समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जाये ताकि मानव जीवन और मानव स्वास्थ्य को एक मानवीय ज़रूरत के तौर पर ही देखा और व्यवहार में लाया जाये, न कि एक माल के तौर पर।

●●●

## 2 सितम्बर की हड़ताल जैसे वार्षिक अनुष्ठानों से क्या होगा?

(पेज 1 से आगे)

और कई बार कुछ सरकारी विभाग तक खुद ही छुट्टी घोषित कर देते हैं। और कई इलाकों में मालिकों से इनकी यह सेटिंग हो चुकी होती है कि दोपहर तक ही हड़ताल रहेगी और उसके बाद फैक्ट्री चलेगी। गुडगाँव में इस हड़ताल की "छुट्टी" के बदले इसके पहले वाले हफ्ते में ओवरटाइम काम करवा लिया जाता है। इसे रस्म नहीं कहा जाये तो क्या कहें? ऐसी रस्म-नुमा हड़तालों से पूँजीपतियों के मुनाफ़े पर कोई असर नहीं पड़ता है। ये केंद्रीय ट्रेड यूनियन यदि वास्तव में मज़दूरों के हितों और श्रम विरोधी नीतियों को लेकर चिंतित हैं तो पूरी तैयारी और संगठन के साथ ये लम्बी या अनिश्चितकालीन हड़ताल की घोषणा क्यों नहीं करती? वे तब तक जुझारू लड़ाई का ऐलान क्यों नहीं करती जब तक कि श्रम के ठेकाकरण की प्रक्रिया समाप्त नहीं की जाती? ये यूनियन तब तक के लिए काम ठप्प क्यों नहीं कर देती जब तक कि सभी ठेका-केजुअल-एप्रेंटिस-मज़दूरों को उनके अधिकार न मिल जाएँ? भारत के असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों के संघर्षों में ये यूनियन क्यों नहीं हड़ताल पर उतरतीं और अपनी 5 करोड़ सदस्यता को काम बंद करने को क्यों नहीं कहती? ज़ाहिर है कि यूनियन दलाल हो चुकी हैं और मज़दूर वर्ग से गद्दारी कर चुकी हैं!

पिछले साल भी इसी दिन इन यूनियनों ने मोदी सरकार द्वारा श्रम कानूनों में किये जा रहे मज़दूर-विरोधी संशोधनों के खिलाफ हड़ताल की थी। क्या इससे मोदी सरकार ने मज़दूर-विरोधी संशोधनों को वापस ले लिया? सच तो यह है कि इन संशोधनों को पूरे देश में धड़ल्ले से लागू किया जा रहा है। 1990 में नवउदारवाद और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से करीब 17 बार पहले भी इसी तरह का 'भारत बंद', 'आम हड़ताल', 'प्रतिरोध दिवस' का आह्वान ये केंद्रीय ट्रेड यूनियन कर चुकी हैं। मगर इन 26 वर्षों के दौरान ही मज़दूर-विरोधी नीतियों और मज़दूर संघर्षों के दमन में बेतहाशा बढ़ोतरी हुयी है। साफ़ है कि एक दिन की हड़ताल का मकसद होता है मज़दूरों और मेहनतकशों के भीतर पनप रहे गुस्से को थोड़ा-थोड़ा करके निकालना ताकि मज़दूरों का गुस्सा ज्वालामुखी के समान फट न पड़े।

आज देश के तमाम औद्योगिक क्षेत्रों में किसी भी फैक्ट्री में न्यूनतम वेतन नहीं दिया जाता। ई.एस.आई. और पी.एफ. से भी सभी मज़दूर वंचित रहते हैं। लेकिन ये केंद्रीय ट्रेड यूनियन पूरे साल इन मुद्दों पर कुछ भी

नहीं करतीं। लाल झंडे की आड़ में यह मज़दूरों के बीच में मालिकों और पूँजीपतियों के लफ़्फ़ाज़ होते हैं। संसद में बैठे इनके बड़े नेता मज़दूर-हितों पर भाषण-वाषण देने के अलावा सारी मज़दूर-विरोधी नीतियों के बनने में साथ देते हैं। दूसरी तरफ़ निचले स्तरों पर इन यूनियनों के नेता मज़दूरों से कमीशन तो खाते ही हैं, समझौते के नाम पर मालिकों से भी पैसा लेते हैं। कुंभकरण की नींद सोये इन ट्रेड यूनियनों के मज़दूर संगठनों की नींद खुलती है हर साल हड़ताल का दिन आने पर। तब यह लोग मज़दूर एकता कायम करने की बात करते हैं। एकदिनी हड़ताल करने वाली इन केंद्रीय ट्रेड यूनियनों से पूछा जाना चाहिए कि जब इनकी आका पार्टियां संसद-विधानसभा में मज़दूर-विरोधी कानून पारित करती हैं, तो उस समय ये चुप्पी मारकर क्यों बैठी रहती हैं? सीपीआई और सीपीएम जब सत्ता में रहती हैं तो खुद ही मज़दूरों के विरुद्ध नीतियां बनाती हैं, तो फिर इनसे जुड़ी ट्रेड यूनियन मज़दूरों के हकों के लिए कैसे लड़ सकती हैं? पश्चिम बंगाल में टाटा का कारखाना लगाने के लिए गरीब मेहनतकशों का कल्लेआम हुआ तो सीपीआई व सीपीएम से जुड़ी ट्रेड यूनियनों ने इसके खिलाफ कोई आवाज़ क्यों नहीं उठायी? जब कांग्रेस और भाजपा की सरकारें मज़दूरों के हकों को छीनती हैं तो भारतीय मज़दूर संघ और इंटक जैसी यूनियन चुप्पी क्यों साधे रहती हैं? यही कारण है कि चुनावी पार्टियों से जुड़ी ट्रेड यूनियन ज़्यादा से ज़्यादा इस तरह की रस्मी हड़तालें ही कर सकती हैं। और वह भी इसलिए कि आम मेहनतकश जनता के बीच और वह भी संगठित क्षेत्र के 7-8 प्रतिशत मज़दूरों के बीच उनकी कुछ ज़मीन बची रहे। देश के 50 करोड़ असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों और के बीच न तो इनकी पहुँच है और न ही उनके बारे में ये यूनियन चिंतित हैं। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों यानी ठेका, केजुअल, एप्रेंटिस मज़दूरों की मांग इनके मांगपत्रों में निचले पायदान पर जगह पाती है और इस क्षेत्र के मज़दूरों का इस्तेमाल महज भीड़ जुटाने के लिए किया जाता है।

पिछले वर्षों की तरह इस वर्ष भी हड़ताल में मुख्य तौर पर बैंक, बीमा, रेलवे व अन्य पब्लिक सेक्टर के कर्मचारी शामिल हुए। असंगठित क्षेत्र यानी ठेका, केजुअल, एप्रेंटिस मज़दूरों के बीच इस तरह की हड़ताल का कोई खास असर नहीं रहा। पिछले साल भी इसी दिन इन यूनियनों ने मोदी सरकार द्वारा श्रम कानूनों में किये जा रहे मज़दूर-विरोधी संशोधनों के खिलाफ हड़ताल की थी।

साफ़ है कि 2 सितंबर की हड़ताल महज इस व्यवस्था के अंदर दमन और उत्पीड़न झेल रही मज़दूर जनता के गुस्से को निकालने वाली हड़ताल थी। इस हड़ताल में विरोध को और उसके कारण पड़े असर के दृश्य को सरकार और ट्रेड यूनियनों ने बाकायदा नाटकीयता के साथ अदा किया। इन नौटंकीबाजों की पोल खोलने की चुनौती आज हर क्रान्तिकारी संगठन के सामने है। परंतु कई ऐसे संगठन भी हैं जो इनकी इस एक दिन की हड़ताल को रस्म बोलते हैं और इनकी राजनीति का क्रान्तिकारी विकल्प देने की बात करते हैं, मगर इनकी रस्मी हड़तालों में पूरे जी जान से हिस्सेदारी भी करते हैं। जैसे इस "विकल्प" के लिए एक सेमिनार का आयोजन दिल्ली में 28 अगस्त को किया गया जिसमें मज़दूरों के 'इंकलाबी' केंद्र, और 'क्रान्तिकारी' सभा सरीखे अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी शामिल हुए। इस सम्मलेन में तमाम संगठनों ने सवाल उठाया कि पिछले 25 सालों से केंद्रीय ट्रेड यूनियन मज़दूरों के हक़ नहीं बचा पायी लेकिन इसपर इन्होंने चुप्पी साध ली कि दरअसल केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की राजनीति मज़दूरों को महज आर्थिक संघर्ष के दायरे में उलझाये रखना है और मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को कुंद करना है। कहा गया कि केंद्रीय ट्रेड यूनियन ने इस हड़ताल को रस्मी बना दिया है। लेकिन फिर यही लोग कहते हैं कि उन्हें इस हड़ताल यानी इस रस्म को सफल बनाने के लिए प्रयास करना चाहिए! यह कैसी समझदारी है? इनका समर्थन अंत में केंद्रीय ट्रेड यूनियन द्वारा मज़दूरों के गुस्से को एक दिन की रस्मी हड़ताल में निकालकर इस व्यवस्था की ही एक सुरक्षा पंक्ति की भूमिका में इन्हें ला खड़ा करता है। फिर इसमें नया क्या हुआ? यह नयापन है नया अर्थवाद, पिछलगुआपन और क्रान्तिकारी पार्टी की ज़रूरत को तिलांजलि। हालांकि मज़दूर वर्ग के बीच ये अपनी पकड़ नहीं बना पाये हैं लेकिन उन्हें दिग्भ्रमित करने का काम ज़रूर करते हैं।

**2 सितंबर की हड़ताल पर तमाम अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी, नव अर्थवादी व अवसरवादी संघटनों ने विकल्प के नाम पर केंद्रीय ट्रेड यूनियनों की पूँछ पकड़ी!**

खुद को केंद्रीय ट्रेड यूनियन का विकल्प बताने और इनसे अपने को अलग साबित करने में अंत में ये लोग भी इन केंद्रीय ट्रेड यूनियनों की पूँछ में कंधी ही करते हैं और क्रान्तिकारिता और आंदोलन को मजबूती देने के

प्रयास के नाम पर अवसरवादियों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध कायम करते हैं। अपने को इनका विकल्प कहने के बाद भी इनके खिलाफ खुलकर कहीं भी संघर्ष नहीं करते और इनकी गद्दारी के खिलाफ आवाज़ नहीं उठाते। बस अपनी आलोचना को ये सेमिनार कक्षों और कानाफूसी तक ही सीमित रखने में यकीन करते हैं। आन्दोलनों में हर जगह केंद्रीय ट्रेड यूनियन के नेताओं की चाटुकारिता करके ही ये लोग आंदोलन में अपने लिए जगह बनाते हैं। इस बार अपनी क्रान्तिकारिता का प्रणाम देने के लिए हड़ताल के समर्थन में मुँहजुबानी सतत संघर्ष और ठेका मज़दूरों की बात जोड़ दी गयी। यह भी पिछले साल की अपनी राजनीतिक समझदारी से 180 डिग्री की कोण से पलटी मारने के बाद था। मुँहजुबानी इसलिए कि इन्होंने इस 'सतत संघर्ष' के लिए मज़दूरों को कभी ललकारा ही नहीं, इस आधार पर मज़दूरों को लड़ने के तरीके बताये ही नहीं। सतत संघर्ष कहकर भी इन्होंने असल में सिर्फ 2 सितंबर की हड़ताल में ही अपना नाम चमकाने की कोशिश की। खैर कहने के लिए ही सही, यह इल्हाम इन्हें कैसे हुआ यह जानना भी बड़ा दिलचस्प है। असल में यह चौर्य लेखन की इनकी कला के बिना संभव नहीं है और इस बात में सबसे आगे नौजवानों की 'क्रान्तिकारी' सभा बनाने वाले और 'इंकलाबी' केंद्र संगठन हैं जो पहले 2 सितंबर सरीखी रस्मी हड़ताल का पूर्ण समर्थन करते थे और जिन्होंने मज़दूर बिगुल के पन्नों पर आलोचना होने के बाद बिना कुछ कहे अपनी अवस्थिति बदल ली है। बदली हुयी अवस्थिति में भी अंत में ये क्रान्तिकारिता को ओढ़ते हैं और अर्थवादी राजनीति की ही नुमाइन्दगी करते हैं।

**इंकलाब में नहीं चौर्य कला में माहिर 'केंद्र'**

गौरतलब बात है कि "इंकलाबी" केंद्र और नौजवानों की "क्रान्तिकारी" सभा सरीखे संगठन लम्बे समय तक मज़दूरों की लड़ाई को सिर्फ़ फैक्ट्री आधारित संघर्ष के आधार पर एकजुट करने की बात करते रहे और इलाकाई आधार व सेक्टरगत आधार पर मज़दूरों की एकजुटता, परमानेंट व कॉन्ट्रैक्ट के बीच पैदा हुए विभाजन को अस्वीकार करते रहे और आज अचानक इनके हर नारे और हर पोस्टर पर इलाकाई एकता और ठेका मज़दूरों के अधिकारों की बात आ गयी है। आज तमाम सेमिनारों में ये इलाकाई आधार पर मज़दूरों को यूनियन में एकजुट करने की बात कर रहे हैं और ठेका मज़दूरों के अधिकारों को लड़ाई का मुख्या मुद्दा बता रहे

हैं। परंतु आज से कुछ साल पहले इसे यह सुधार की राजनीति कह रहे थे। मारुति के आंदोलन में भी इनकी ठेका मज़दूरों को कभी साथ न लेने और इलाकाई आधार पर संघर्ष को एकजुट न करने के कारण आन्दोलन को हार का सामना करना पड़ा। परन्तु अब अचानक ये इलाकाई और ठेका मज़दूरों की मांगों को अपने पोस्टरों और पर्चों पर लिखने लगे हैं। ये अगर ईमानदारी से इस निष्कर्ष पर पहुँचते और अपनी गलत समझदारी के लिए अपनी आलोचना रखते तब भी यह स्वागत योग्य बात होती परन्तु न इन्होंने इस पैतरा पलट पर कहीं कोई बात की है और न ही कोई चूँ तक की है। असल में इनमें भारतीय मध्य वर्ग के कमजोर मानस की सारी प्रवृत्तियां हैं।

इन्हें यह इल्हाम किसी यज्ञ उपासना से नहीं बल्कि इनकी चौर्य कला से हासिल हुआ है। इनके इस चौर्य लेखन पर हम अगली बार और विस्तारपूर्ण तरीके से इनके पर्चों और इनके मुखपत्र में छपे लेखों के हिस्से प्रकाशित कर इनकी राजनीतिक बेईमानी से परिचित करवाएंगे। यहाँ इस बात को इंगित करने का अर्थ था कि इनकी अवसरवादिता आज इतनी बढ़ चुकी है कि इनसे यह उम्मीद करना भूल होगी कि इन्होंने यह गलतियां अपनी कम समझ के कारण की हैं। इनकी अवसरवादिता से हमें परिचित होना चाहिए। क्योंकि इनकी राजनीति मज़दूरों के स्वतःस्फूर्त संघर्षों पर टिकी हुयी है और ये हर स्वतःस्फूर्त आन्दोलन का जश्र मानते हैं। 2 सितम्बर पर होने वाली रैलियां देखकर इनके अन्दर तूफ़ान हिलोले मारने लगता है और ये फेसबुक से ही आने वाले तूफ़ान का आह्वान तक करने लगते हैं।

निष्कर्ष के तौर पर कहें तो हमारे सामने सवाल यह है कि हम कब तक इन केंद्रीय ट्रेड यूनियनों और इन दिग्भ्रमित नौसिखियों की बात में आते रहेंगे और इनके बरक्स कब अपना क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करेंगे। हमें लगता है कि ऐसा विकल्प एक स्वतंत्र क्रान्तिकारी यूनियन ही बन सकती है जो संघर्ष के आधार पर एकता बनाती हो न कि चापलूसी और गलत बातें सहने के आधार पर बनाती हो। 1990 में नवउदारवाद और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से करीब 17 बार पहले भी इसी तरह का 'भारत बंद', 'आम हड़ताल', 'प्रतिरोध दिवस' का आह्वान ये केंद्रीय ट्रेड यूनियन कर चुकी हैं। मगर इन 26 वर्षों के दौरान ही मज़दूर-विरोधी नीतियों और मज़दूर संघर्षों

(पेज 15 पर जारी)



# जाति उन्मूलन का ऐतिहासिक कार्यभार महज़ दलित आबादी का उत्तरदायित्व नहीं है राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति को अलग-अलग करके देखना अवैज्ञानिक है

'जाति उन्मूलन का रास्ता - समस्याएँ, चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ' विषय पर सेमिनार का आयोजन

हरियाणा के कैथल जिले के कलायत शहर में 28 अगस्त, रविवार को 'जाति उन्मूलन का रास्ता- समस्याएँ, चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ' विषय पर सेमिनार का आयोजन किया। डा. अम्बेडकर भवन में आयोजित सेमिनार में विभिन्न शहरों और संगठनों से आए करीब 150 छात्रों, नौजवानों और बुद्धिजीवियों ने हिस्सा लिया। 'मज़दूर बिगुल' मासिक अखबार और 'रेड पॉलेमिक' ब्लॉग के लेखक अभिनव ने कार्यक्रम में मुख्या वक्ता के तौर पर शिरकत की।

मंच संचालक उमेद ने सेमिनार का विषय प्रवर्तन करते हुए कहा कि हरियाणा जैसे जातीय हिंसा और दलित विरोधी अपराधों (दुलाना, गोहाना, भगाना आदि) के लिए कुख्यात पिछड़ी सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना वाले राज्य में 'जाति उन्मूलन' जैसे संवेदनशील विषय पर अत्यन्त संजीदा चिन्तन-मनन की सख्त ज़रूरत है। देश और प्रदेश में भाजपा, आरएसएस की सरकार बनने के बाद से दलितों-अल्पसंख्यकों पर हमलों में अकेले हरियाणा में 19 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है। शासन और प्रशासन के अलावा शिक्षा और सांस्कृतिक के तमाम संस्थानों पर भगवाकरण थोपा जा रहा है। एक सोची-समझी साजिश के तहत पूरी रणनीति बनाकर पुराने मूल्य-मान्यताओं को खाद-पानी देने का काम किया जा रहा है - पितृसत्ता, वर्णाश्रम, धार्मिक और जातीय कट्टरता का ज़हर युवा पीढ़ी को देने की कोशिश हो रही है। जिस तरह से हरियाणा में फरवरी माह में जाट-गैर जाट का कार्ड खेलकर खून-खराबा और आगजनी में पूरे प्रदेश को झोंक दिया गया उससे एक बात तो स्पष्ट है कि जातीय अस्मिता की दृष्टि से हरियाणा अत्यन्त संवेदनशील है। साथ ही देश स्तर पर फिलहाल जिस नये बहाने को लेकर दलितों पर हमले किये जा रहे हैं, वह है गौरक्षा। हाल ही में, ऊना (गुजरात) से लेकर राजस्थान, हरियाणा व महाराष्ट्र तक में दलितों पर बर्बर हमले किये गये हैं। लेकिन इस बार मेहनतकश दलित आबादी ने भी विशेष तौर पर गुजरात में इन घटनाओं के विरुद्ध जुझारू आन्दोलन शुरू कर दिया है। और इतना तय है कि मौजूदा आन्दोलन ने जाति के प्रश्न को एक बार फिर से पुरजोर तौर पर रेखांकित किया है और ऐसे सभी लोगों के समक्ष यह यक्ष-प्रश्न एक बार फिर से खड़ा किया है कि भारतीय समाज में किसी भी मुक्तिकामी और परिवर्तनकामी रूपान्तरण की परियोजना के लिए जाति के प्रश्न को ऐतिहासिक तौर पर किस रूप में समझा जाय और इसके हल का रास्ता क्या हो? मौजूदा आन्दोलन इस मायने में कुछ हालिया आन्दोलनों से आगे गया है कि यह सरकार से रियायतें



माँगने, सुधारवाद और व्यवहारवाद के रास्ते कुछ फौरी राहत हासिल करने, या संविधान-कानून-कोर्ट के दायरे का अतिक्रमण कर रहा है। नेतृत्व की विचारधारा जो भी हो, मगर इतना तय है कि यह मेहनतकश गरीब दलित आबादी का एक उभार है जिसका साथ सिर्फ मुसलमान ही नहीं बल्कि तमाम प्रगतिशील लोग व साथ ही आम मेहनतकश वर्गों से आने वाले गैर-दलित भी दे रहे हैं। लेकिन साथ ही नेतृत्व की राजनीति और विचारधारा का प्रश्न भी बेहद अहम है क्योंकि ऐसे किसी भी स्वतःस्फूर्त उभार को अन्ततः दिशा देने का कार्य यही नेतृत्व करता है।

इसी प्रश्न से जुड़ा हुआ नुक्ता यह है कि जाति-उन्मूलन की कोई भी लड़ाई तभी आगे बढ़ सकती है जबकि यह समझा जाये कि जाति और वर्ण आखिर हैं क्या? हम इन्हें कैसे परिभाषित करें? हम इसके पूरे ऐतिहासिक विकास को कैसे समझें? हम इसके समकालीन स्वरूप को किस रूप में देखें? 'रैडिकल' होने का अर्थ होता है समस्या के मूल तक जाना। यदि हम इन प्रश्नों को उत्तर नहीं देते तो क्या हम जाति-उन्मूलन के ऐतिहासिक संघर्ष को सुधारवादी, व्यवहारवादी खाँचे से आगे बढ़ा पाएँगे? ऐसा नहीं लगता। ऐसे में, इन ऐतिहासिक प्रश्नों को नज़रन्दाज़ करके आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। हमें जाति-उन्मूलन के प्रोजेक्ट को पूरा करने के लिए एक दूरगामी कार्यक्रम देना ही होगा। वह कौन-सी व्यवस्था और कौन-सा समाज हो सकता है जो वास्तव में जाति की गाँठ को पूरी तरह समाप्त कर सकता है? क्या वह महज़ सरकारी रियायतों, कानूनी-संवैधानिक सुधारों व तथाकथित सकारात्मक कार्रवाई (एफ़र्मेटिव एक्शन) के ज़रिये सम्भव है? यदि नहीं, तो हम किस प्रकार के व्यवस्थागत परिवर्तन की

बात करें? यह कहना दोहरावपूर्ण किन्तु सत्य है कि 'बिना क्रान्ति के जाति उन्मूलन सम्भव नहीं है और बिना एक क्रान्तिकारी जाति-विरोधी आन्दोलन के, क्रान्ति के लिए ज़रूरी वर्ग एकजुटता कायम करना मुश्किल है।' ऐसे में जाति-उन्मूलन के संघर्ष की विचारधारा और राजनीति क्या होनी चाहिए? जाति-उन्मूलन का दूरगामी कार्यक्रम इन्हीं मूलभूत प्रश्नों को उत्तर देगा और यह दूरगामी कार्यक्रम क्या हो, यह सोचना किसी सुदूर भविष्य का कार्यभार नहीं बल्कि हमारा समकालीन कार्यभार है।

'मज़दूर बिगुल' के संपादक अभिनव ने विषय पर बात रखते हुए कहा कि आज मौजूद जाति व्यवस्था के उन्मूलन के लिए उसकी उत्पत्ति, भारतीय इतिहास में बदलते उत्पादन सम्बन्धों के साथ जाति व्यवस्था का स्वरूप तथा दलित मुक्ति संघर्षों के योगदान और उनकी सीमाओं का विश्लेषण करना बेहद ज़रूरी है। पूरे देश स्तर पर दलित आबादी पर बढ़ती उत्पीड़न की घटनाओं से लेकर मेहनतकश दलित आबादी की सामाजिक, आर्थिक स्थिति पर आंकड़ों से अपनी बात की शुरुआत की। आगे उन्होंने जाति-वर्ण के उद्भव से लेकर अलग दौरे में जाति-व्यवस्था के स्वरूप में आये बदलाव को रेखांकित किया। साथ ही ज्योतिबा फुल, पेरियार से लेकर डॉ अम्बेडकर के जाति-विरोधी संघर्ष का समीक्षा-समाहार करते हुए आज के दौर में जाति-उन्मूलन की परियोजना समस्याएँ और चुनौतियाँ पर बात रखी। अभिनव ने आगे गुजरात के ऊना कांड के बाद दलित आन्दोलन अपनी बात रखी। आज देश भर में मेहनतकश दलित आबादी भी संघी फासीवादियों के अत्याचारों के खिलाफ चुप नहीं बैठ रही है। उसने केवल संविधान और

सरकार के भरोसे रहने, रियायतें माँगने और सुधारवाद के भरोसे रहना बन्द कर दिया है। गुजरात में मेहनतकश दलितों ने सम्मान और समानता के हक के लिए जो जंग छेड़ी है वह शानदार है। आज देश के मेहनतकश गरीब दलित मज़दूर और आम मेहनतकश यह समझ रहा है कि इंकलाब के अलावा कोई रास्ता नहीं है। वह समझ रहा है कि केवल शासक वर्गों के साथ सहयोग कर कुछ रियायतें हासिल करने के रास्ते से उसे पिछले आठ दशकों में कुछ ख़ास हासिल नहीं हो सका है। देश का मेहनतकश दलित और पिछड़े वर्गों के दमित गरीब लोग समझ रहे हैं कि आरक्षण के ही रास्ते उन्हें बराबरी और इंसोफ़ हासिल नहीं हो सकता है। गौरतलब है, सरकारी नौकरियाँ पिछले कई वर्षों से दो प्रतिशत से भी तेज़ रफ़्तार से घट रही हैं। आरक्षण को लागू न करने के सवर्णवादी भ्रष्टाचार के विरुद्ध लड़ना ज़रूरी है। मगर आरक्षण के भरोसे ही दलित मुक्ति के खोखले सपने परोसने वालों से सावधान रहें। यदि पिछले कई दशकों के आरक्षण के बाद भी आज देश में 90 प्रतिशत दलित गरीबी, अपमान और अन्याय झेल रहे हैं, तो क्या यह सिद्ध नहीं होता कि दलित मुक्ति की पूरी परियोजना को आरक्षण पर सीमित करना एक साज़िश है? दलितों के बीच से जो एक धनी व उच्च मध्यवर्गीय तबका पैदा हुआ है, वह शासक वर्ग का साझीदार है। इस कुलीन मध्यवर्गीय दलित तबके को अब मेहनतकश दलितों के विरुद्ध होने वाले अत्याचारों और अन्याय से कोई लेना-देना नहीं है। यही तबका ही मुख्य रूप से नौकरियों और उच्च शिक्षा में अब आरक्षण का भी लाभ उठा रहा है। मेहनतकश दलितों को इसका लाभ बिरले ही मिल पाता है क्योंकि 87 प्रतिशत दलित स्कूली शिक्षा भी पूरी

नहीं कर पाते। दलितों के बीच से पैदा हुआ यह छोटा सा शासक वर्ग जाति उन्मूलन के संघर्ष से पूरी तरह ग़दारी कर चुका है। वरना क्या कारण है कि पिछले कुछ वर्षों में दलितों के विरुद्ध हुए जघन्य अत्याचारों के बावजूद किसी दलित नेता या नौकरशाह ने जुबानी जमाखर्च की नौटंकी के अलावा कुछ नहीं किया? उल्टे रामविलास पासवान, रामदास आठवले, उदित राज जैसे दलितों के मसीहा बनने वाले घृणित राजनीतिज्ञ सवर्णवादियों और ब्राह्मणवादियों की पालकी ढो रहे हैं! क्या मायावती से लेकर थिरुमावलवन जैसे पूँजीवादी दलित राजनीतिज्ञ वक्त पड़ने पर संघियों और सवर्णवादियों के साथ मोर्चे नहीं बना लेते? दलित मुक्ति के आन्दोलन में व्याप्त व्यवहारवाद ने जाति-उन्मूलन के ऐतिहासिक संघर्ष को बहुत नुकसान पहुँचाया है। व्यवहारवाद का अर्थ है, 'ज़रूरत पड़ने पर गधे को बाप बनाओ', 'जो भी शासन में हो उससे सहयोग करो और रियायतें माँगो', 'बदलाव जनता के जुझारू क्रान्तिकारी आन्दोलन से नहीं सरकारी कानूनों और नीतियों से होता है', 'परिवर्तनकामी रास्ता बेकार है, छोटे-छोटे सुधारों के लिए लड़ते रहो' वगैरह।

देश की मेहनतकश दलित और पिछड़ी आबादी यह समझ रही है कि सरकारों और संविधान के भरोसे रहकर अब और कुछ हासिल नहीं हो सकता। यही कारण है कि आज देश भर में दलित मेहनतकश आबादी ने जुझारू संघर्ष और आन्दोलन का रास्ता चुना है। अन्य जातियों के मेहनतकश भी काफी हद तक उनका साथ दे रहे हैं। लेकिन अभी इस वर्ग एकजुटता को और ज़्यादा बढ़ाने की आवश्यकता है। मज़दूरों और आम मेहनतकशों को यह समझना होगा कि जातिवादी रूढ़िवादी (पेज 10 पर जारी)

## 'जाति उन्मूलन का रास्ता - समस्याएँ, चुनौतियाँ एवं सम्भावनाएँ' विषय पर सेमिनार का आयोजन

(पेज 9 से आगे)

विचारों को त्यागे बगैर उनका भला नहीं है। बजाय अपने दुश्मन के विरुद्ध लड़ने के, वे आपस में ही लड़ मरेंगे। क्या आपने सोचा है कि जातिवादी उत्पीड़न के शिकार हमेशा गरीब दलित क्यों होते हैं? कोई नौकरशाह या नेताशाह दलित कभी इसके निशाने पर क्यों नहीं होता? क्या आपने कभी सोचा है कि जाति-आधारित हिंसा में कोई अमीर सवर्ण या कुलीन मध्यवर्गीय दलित का घर क्यों नहीं जलता? हमेशा इन उत्पीड़न और दंगों में गरीब आबादी क्यों जान-माल का नुकसान उठाती है? इन सवालों पर सोचते ही सच्चाई सामने आने लगती है।

जाति उन्मूलन के संघर्ष में नौजवानों की विशेष भूमिका की जरूरत है। हमारे देश में आजादी के बाद से जो शहरीकरण व औद्योगिकीकरण हुआ उसने छुआछूत और आनुवांशिक जाति श्रम विभाजन को कापफ़ी कमजोर किया है, लेकिन अन्तरजातीय विवाहों के न होने के कारण जाति व्यवस्था अपना रूप बदलकर मज़बूती

से शासक वर्गों की सेवा कर रही है। अवैज्ञानिक व अतार्किक विचारों ने जातिगत रूढ़ियों को बढ़ावा ही दिया है। वहीं स्त्रियों की गुलामी ने भी जाति व्यवस्था के ध्वंस को मुश्किल बना रखा है। स्त्रियों को चूल्हे-चैखट तक सीमित कर दिया जाता है और उन्हें अपने जीवन के निर्णय स्वयं लेने का हक नहीं दिया जाता। नतीजतन, समाज में जाति का दम घोटने वाला रूढ़िबद्ध ढाँचा भी कायम रहता है। ऐसे में, नवयुवकों और नवयुवतियों को आगे आकर इन अवैज्ञानिक और अतार्किक विचारों पर चोट करनी चाहिए। उन्हें सबसे पहले आकर छुआछूत को तोड़ना चाहिए, अन्तरजातीय विवाहों की परम्परा बहाल करनी चाहिए और शहीदे-आज़म भगतसिंह के विचारों को अपनाते हुए हर प्रकार के ब्राह्मणवादी-मनुवादी विचारों पर पुरजोर चोट करनी चाहिए। लेकिन यह कार्य नौजवान तभी कर सकते हैं, जब वे संगठित हों और अपने क्रान्तिकारी युवा संगठन का निर्माण करें। समाज के प्रबुद्ध नागरिकों को भी जाति उन्मूलन की मुहिम को

आगे बढ़ाने के लिए जाति-विरोधी मुहिम चलानी चाहिए। जाति उन्मूलन का ऐतिहासिक कार्यभार महज़ दलित आबादी का उत्तरदायित्व नहीं है। जाति का उन्मूलन अस्मिता के आधार पर बने दलित संगठनों या दलित आन्दोलनों के ज़रिये नहीं बल्कि वर्ग-आधारित जाति-विरोधी संगठन व आन्दोलन के ज़रिये ही सम्भव है। यह समूचे क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक प्रमुख एजेण्डा है। ऐसे वर्ग-आधारित जाति-विरोधी आन्दोलन को जाति-उन्मूलन की लड़ाई को मज़दूर आन्दोलन, स्त्री मुक्ति आन्दोलन, दमित राष्ट्रीयताओं के आन्दोलन के साथ जोड़ना होगा और एक आमूलगामी राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक क्रान्ति को अपना लक्ष्य बनाना होगा। जो लोग यह सोचते हैं कि राजनीतिक व आर्थिक क्रान्ति के बिना 'सामाजिक क्रान्ति' हो जायेगी या आर्थिक शोषण के विरुद्ध लड़े बगैर सामाजिक अन्याय के विरुद्ध लड़ा जा सकता है, वे भयंकर ग़लतफ़हमी का शिकार हैं। आर्थिक शोषण हर-हमेशा सामाजिक अन्याय व उत्पीड़न के

साथ गुंथा-बुना होता है। इसलिए यह सोचना अज्ञानपूर्ण है कि राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति के लिए शहीदे-आज़म भगतसिंह और सामाजिक क्रान्ति के लिए अम्बेडकरवाद। शहीदे-आज़म भगतसिंह इस बात को समझते थे कि आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न एक-दूसरे के साथ गुंथे-बुने होते हैं और इन्हें कायम रखने का कार्य शासक वर्ग और उनकी राजनीतिक सत्ता करती है। आर्थिक शोषण सामाजिक उत्पीड़न के ऐतिहासिक सन्दर्भ व पृष्ठभूमि को बनाता है और सामाजिक उत्पीड़न बदले में आर्थिक शोषण को आर्थिक अतिशोषण में तब्दील करता है। यही कारण है कि 10 में से 9 दलित-विरोधी अपराधों के निशाने पर गरीब मेहनतकश दलित होते हैं और यही कारण है कि मज़दूर आबादी में भी सबसे ज़्यादा शोषित और दमित दलित जातियों के मज़दूर होते हैं। आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न के सम्मिश्रित रूपों को बनाये रखने का कार्य शासक वर्ग और उसकी राजनीतिक सत्ता करते हैं। यही कारण है

कि इस आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीड़न को ख़त्म करने का संघर्ष वास्तव में पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक सत्ता के ध्वंस और मेहनतकशों की सत्ता की स्थापना का ही एक अंग है। दूसरे शब्दों में, राजनीतिक-आर्थिक-सामाजिक क्रान्ति को अलग-अलग करके देखना अवैज्ञानिक है और जो बिना राजनीतिक-आर्थिक क्रान्ति के 'सामाजिक क्रान्ति' की बात करता है, उसकी सोच सुधारवाद, संविधानवाद और शासकों से रियायतें माँगने से आगे कभी नहीं जा सकती, चाहे वह ब्राह्मणवाद और मनुवाद के बारे में कितनी ही मूर्तिभंजक बातें क्यों न करे। शहीदे-आज़म भगतसिंह का मेहनतकश आबादी के इंकलाब का रास्ता ही वास्तव में एक ऐसी आमूलगामी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्रान्ति का रास्ता है, जो आर्थिक शोषण के साथ-साथ सामाजिक उत्पीड़न के तमाम रूपों के विरुद्ध कारगर तौर पर संघर्ष को सम्भव बनाता है।

— बिगुल संवाददाता

## अरब देशों में भारतीय मज़दूरों की दिल दहला देने वाली दास्तान



(पेज 1 से आगे)

अतिशोषण करना और काम पूरा होने पर उनकी छँटनी करना ज़्यादा आसान होता है।

विदेशों से मज़दूरों के अरब देशों में आप्रवासन को नियंत्रित करने के लिए इन देशों में एक विशेष प्रणाली लागू की जाती है जिसे काफ़ला प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली की शर्तें इतनी कठोर हैं कि अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन ने इसे गुलामी का समकालीन रूप कहा है। इस प्रणाली के तहत इन मुल्कों में अकुशल मज़दूरों को लाने के लिए एक प्रायोजक की जरूरत होती है जो आमतौर पर इन मज़दूरों से काम लेने वाली कंपनियों का ही नुमाइंदा होता है और वही मज़दूर के वीजा और कानूनी स्थिति के लिए जिम्मेदार होता है। इस प्रणाली के तहत बुलाये जाने वाले मज़दूर प्रायोजक की अनुमति के बगैर न तो किसी अन्य कंपनी में काम कर सकते हैं और न ही वापस अपने देश लौट सकते हैं। खाड़ी के इन देशों में प्रवासी मज़दूरों के पहुँचते

ही उनका पासपोर्ट ज़ब्त कर लिया जाता है।

काफ़ला प्रणाली के तहत खाड़ी के देशों में पहुँचे प्रवासी मज़दूरों का भयंकर शोषण किया जाता है, उनसे जमकर मेहनत भी करवायी जाती है और बदले में न तो नियमित मज़दूरी मिलती है और न ही कोई सुविधाएँ। ये मज़दूर नरक जैसे हालात में काम करते हैं और ऐसे श्रम शिविरों में रहने को मजबूर होते हैं जहाँ शायद कोई जानवर भी रहना न पसंद करे। अरब की तपती गर्मी में ऐसे हालात में ये मज़दूर किस तरह से रहते होंगे यह सोचने मात्र से रूह कांप उठती है।

अरब देशों में काम करने वाले प्रवासी मज़दूर पहले ही दोगम दर्जे का जीवन जी रहे थे, हाल के वर्षों में विश्व बाज़ार में तेल की कीमतों में गिरावट आने से अरब में काम करने वाले प्रवासी मज़दूरों के हालात बद से बदतर हो गए हैं। ऐसा इसलिए क्योंकि तेल से मिलने वाले राजस्व की कमी की वजह से अरब की राज्यसत्ताओं द्वारा निर्माण क्षेत्र को दिये जाने वाले ठेकों में जबर्दस्त गिरावट

आयी है। इसका सीधा असर निर्माण क्षेत्र में काम करने वाले प्रवासी मज़दूरों पर हुआ क्योंकि महीनों से उनकी तनख्वाहें मिलनी बंद हो गयीं और नया काम मिलने की कोई गुंजाइश नहीं बची। यही नहीं उनमें से जो मज़दूर अपने देश वापस जाना चाहते हैं वे वापस भी लौट नहीं सकते क्योंकि वापस लौटने के लिए भी प्रायोजक की अनुमति की जरूरत होती है जो आसानी से नहीं मिलती। यही वो हालात थे जिनमें मज़दूरों को भूखे और प्यासे रहने की नौबत आन पड़ी क्योंकि महीनों से मज़दूरी न मिलने के कारण या काम से निकाल दिये जाने के कारण मज़दूरों के पास न तो भोजन-पानी खरीदने के लिए पैसा बचा और न ही घर वापस लौटने के भाड़ा।

अरब देशों में काम करने वाले भारत के मज़दूरों की संख्या 60 लाख से भी ज़्यादा है। ये मज़दूर भारत के विभिन्न हिस्सों में काम करने वाली ऐसी तमाम एजेंसियों के झ्रॉसे में आकर देश छोड़कर विदेश में जाकर काम करने के लिए इसलिए तैयार हो जाते हैं क्योंकि

उन्हें मोटी तनख्वाह और खुशहाल ज़िन्दगी के सबज़बाग दिखाये जाते हैं। एक बार खाड़ी के देशों में जाने पर जब उनका पासपोर्ट ज़ब्त कर लिया जाता है और उनकी आवाजाही पर बंदिशें लग जाती हैं तो वे खुद को ठगा हुआ पाते हैं। यही नहीं अमानवीय हालातों में काम करने की वजह से हज़ारों मज़दूर हर साल मारे जाते हैं। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक अकेले वर्ष 2015 में खाड़ी के देशों में 5900 मज़दूर मारे गए जिनमें से अधिकांश सऊदी अरब और संयुक्त राज्य अमीरात में मारे गए। कतर, जहाँ 2022 में फुटबॉल का फीफा विश्वकप आयोजित करने की तैयारियाँ चल रही हैं, में तपती आँच में लगातार काम करने की वजह से 2012 से अब तक 500 से भी अधिक मज़दूरों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा है।

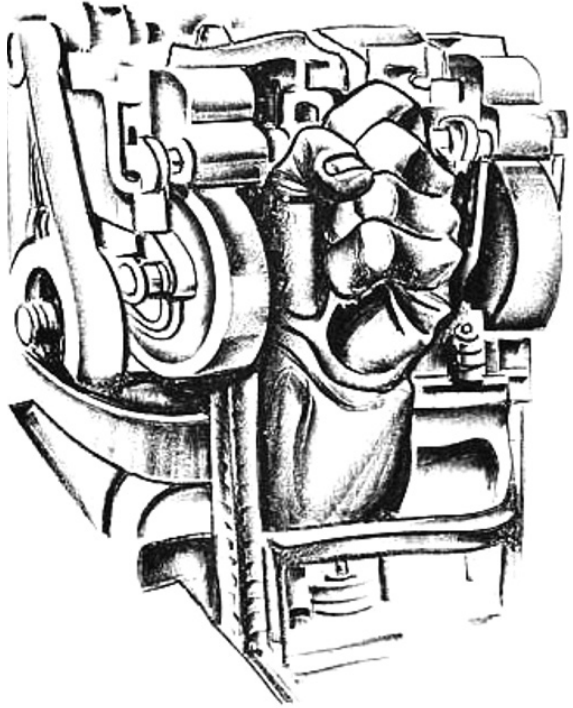
2007 से जारी विश्वव्यापी मन्दी और पिछले कुछ वर्षों के दौरान विश्व बाज़ार में तेल की कीमतों में आयी गिरावट से अरब की पेट्रोलॉल आधारित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के

चरमराने के संकेत साफ़ नज़र आ रहे हैं। इसके अतिरिक्त सीरिया और यमन में जारी युद्धों की वजह से भी समूचा अरब जगत भयंकर अस्थिरता के दौर से गुजर रहा है। अरब देशों की जनता के बीच भी वहाँ के विलासी हुक्मरानों के ख़िलाफ़ गुस्सा लगातार बढ़ता जा रहा है। ऐसे में आने वाले दिनों में इस समूचे क्षेत्र की अस्थिरता बढ़ने ही वाली है। इसका सीधा असर वहाँ काम कर रहे प्रवासी मज़दूरों पर होगा। खाड़ी में काम कर रहे 60 लाख भारतीय मज़दूरों की जीविका ख़तरे में दिख रही है। इन प्रवासी मज़दूरों की जीविका छिन्ने का सीधा असर भारत की अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाला है क्योंकि खाड़ी के देशों में काम करने वाले भारतीय मज़दूर वापस देश में हर साल 30 अरब डॉलर भेजते हैं जो भारत के भुगतान संतुलन और विदेशी मुद्रा भण्डार को कायम रखने में अहम भूमिका निभाता है। यह पूरा घटनाक्रम एक बार फिर से भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूँजीवाद के मानवद्रोही चरित्र को नंगे रूप में सामने ला रहा है।

# मार्क्स की 'पूँजी' को जानिये : चित्रांकनों के साथ

(छठी किस्त)

अमेरिका की कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य एवं प्रसिद्ध राजनीतिक चित्रकार ह्यूगो गेलर्ट ने 1934 में मार्क्स की 'पूँजी' के आधार पर एक पुस्तक 'कार्ल मार्क्स-जै कैपिटल इन लिथोग्राफ्स' लिखी थी जिसमें 'पूँजी' में दी गयी प्रमुख अवधारणाओं को चित्रों के जरिये समझाया गया था। गेलर्ट के ही शब्दों में इस पुस्तक में "...मूल पाठ के सबसे महत्वपूर्ण अंश ही दिये गये हैं। लेकिन मार्क्सवाद की बुनियादी समझ के लिए आवश्यक सामग्री चित्रांकनों की मदद से डाली गयी है।" 'मज़दूर बिगुल' के पाठकों के लिए इस शानदार कृति के चुनिन्दा अंशों को एक शृंखला के रूप में दिया जा रहा है। — सम्पादक



## मशीनरी और बड़े पैमाने का उद्योग: मशीनों द्वारा उत्पाद को हस्तान्तरित किया गया मूल्य

... सहकारिता और श्रम-विभाजन की वजह से श्रम की बढ़ी उत्पादकता के लिए पूँजी को कोई कीमत नहीं चुकानी पड़ती है। ये सामूहिक श्रम की प्राकृतिक शक्तियाँ होती हैं।

उसी प्रकार भाप, पानी आदि जैसी प्राकृतिक शक्तियाँ जो उत्पादन की प्रक्रियाओं में उपयोग के लिए उपयुक्त होती हैं, उनकी भी कोई कीमत नहीं होती है। लेकिन जिस प्रकार इंसान को साँस लेने के लिए फेफड़ों की ज़रूरत होती है, उसी प्रकार उसे प्राकृतिक शक्तियों का उपभोग करने के लिए इंसान के हाथों की बनी किसी चीज़ की ज़रूरत होती है। पानी की मोटर शक्ति का उपयोग करने के लिए एक पनचक्की की ज़रूरत होती है, और भाप की प्रत्यास्थता (इलास्टिसिटी) का उपयोग करने के लिए भाप के इंजन की ज़रूरत होती है।

जो बात प्राकृतिक शक्तियों पर लागू होती है वह विज्ञान पर भी लागू होती है। कोई चुंबकीय सुई विद्युत धारा के क्षेत्र में विचलित होती है, या एक ऐसी लोहे की रॉड जिसमें विद्युत धारा प्रवाहित होती है वह चुंबकीय हो जाती है, इस तरह के नियम जब एक बार खोज लिये जाते हैं तो उसके बाद उन पर एक पैसा भी खर्च नहीं करना होता है। लेकिन जब इन नियमों का उपयोग टेलीग्राफ़ी आदि में करने का सवाल आता है तो खर्चीले और जटिल उपकरणों की ज़रूरत होती है।

मशीनें औजारों को नष्ट नहीं करतीं। हाथ के औजारों से काम करवाने की बजाय पूँजी अब मज़दूर को मशीन से काम करने के लिए तैयार करती है।

स्थिर पूँजी के किसी भी अन्य घटक की ही तरह मशीनें कोई मूल्य नहीं पैदा करतीं, बल्कि वे खुद के मूल्य को अपने द्वारा निर्मित उत्पाद में हस्तांतरित कर देती हैं।

जिस हद तक मशीन का कोई मूल्य है, और इसलिए वह उत्पाद को मूल्य हस्तांतरित करती है, उस हद तक वह उस उत्पाद के मूल्य का अंग बन जाती है। उत्पाद को सस्ता करने की बजाय वह स्वयं के मूल्य के अनुपात में उत्पाद को महंगा कर देती है। यह स्पष्ट है कि मशीनें और मशीनरी के तंत्र, बड़े पैमाने के उद्योग द्वारा उपयोग किये जाने वाले अभिलाक्षणिक श्रम के साधन, दस्तकारी और मैन्युफैक्चरिंग में उपयोग किये जाने वाली श्रम के साधनों से अतुलनीय रूप से अधिक मूल्यवान हैं।

हालाँकि मशीनें हमेशा श्रम की प्रक्रिया में समूचे रूप में शामिल होती हैं, परन्तु मूल्य निर्माण की प्रक्रिया में वे आंशिक रूप से ही शामिल होती हैं। वे कभी उस मूल्य से अधिक मूल्य नहीं जोड़ती हैं जिसे वह औसतन घिसकर खोती हैं।

अतः मशीन के बतौर मूल्य-निर्माता पहलू और बतौर उत्पाद-निर्माता पहलू में बहुत बड़ा अन्तर है। एक ही श्रम प्रक्रिया में एक ही मशीन जितनी लंबी अवधि के लिए बार-बार इस्तेमाल की जायेगी, यह अन्तर उतना ही अधिक होगा।

निश्चित तौर पर हमने देखा है कि हर वो चीज़ जो वास्तव में श्रम का साधन या उत्पादन का उपकरण कही जा सकती है वह श्रम की प्रक्रिया में समूचे तौर पर शामिल होती है; जबकि मूल्य-निर्माण की प्रक्रिया में वह घिसने से होने वाले रोजाना औसत नुकसान के अनुपात में केवल टुकड़ों में शामिल होती है। परन्तु मशीन के मामले में हाथ के औजारों के मुकाबले उपयोग एवं घिसने में अन्तर कहीं ज्यादा होता है, और ऐसा कई वजहों से होता है।

चूँकि मशीन अधिक टिकाऊ सामग्री की बनी होती है इसलिए उसकी उम्र लंबी होती है; चूँकि उसका उपयोग बिल्कुल वैज्ञानिक नियमों से विनियमित होता है इसलिए उसके संघटक हिस्सों में घिसाई में और उसके उपभोग के साधनों में खर्च अधिक क़िफ़ायती होता है; और अन्त में उसके उत्पादन का क्षेत्र हाथ के औजारों के मुकाबले विपुल रूप से विस्तृत होता है।

मशीन और हाथ के औजार दोनों ही मामलों में उनके रोज़ाना औसत लागत, यानी वह मूल्य जो वे घिसने के द्वारा और तेल, कोयला जैसी सहयोगी सामग्रियों के उपभोग के द्वारा उत्पाद में डालते हैं, को छोड़ दिया जाय तो उसके बाद वे अपना काम मुफ्त में ही करते हैं – प्राकृतिक शक्तियों की ही तरह जो मानव श्रम के सहायता के बिना ही काम करती हैं। जिस प्रकार मशीन का उत्पादक कार्य क्षेत्र हाथ के औजारों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है उसी प्रकार उसके अलाभकारी सेवाओं का क्षेत्र भी हाथ की औजारों की तुलना में बहुत अधिक होता है। बड़े पैमाने के उद्योग के स्थापित होने के बाद ही इंसान प्रकृति की शक्तियों की ही तरह अपने अतीत के श्रम के उत्पादों, उनके श्रम के मूर्त रूपों, को बड़े पैमाने पर मुफ्त में काम करवा पाने में सफल हुआ....

जिस दर से मशीन अपना मूल्य दिये गए उत्पाद में हस्तांतरित करती है उसके स्थिर होने पर, इस प्रकार हस्तांतरित मूल्य की मात्रा मशीन के स्वयं के मूल्य पर निर्भर करती है। जितना ही कम श्रम उसमें निहित होता है उतना ही कम मूल्य वह उत्पाद में हस्तांतरित करती है। उतना ही कम वह स्वयं के मूल्य का त्याग करती है, वह उतना ही अधिक उत्पादक होती है, और इसलिए वह अपनी सेवाओं में उतना ही अधिक प्रकृति की शक्तियों की तरह प्रतीत होती है। लेकिन मशीन के द्वारा मशीन का उत्पादन उसके विस्तार और क्षमता के अनुपात में उसके मूल्य को कम कर देता है....



## मशीनरी और बड़े पैमाने का उद्योग: मशीनोफैक्चर के मज़दूर पर पड़ने वाले प्राथमिक प्रभाव

जैसाकि दिखाया जा चुका है, बड़े पैमाने के उद्योग का आरंभिक बिन्दु श्रम के उपकरणों में क्रान्ति होता है, और श्रम के उपकरणों का सबसे प्रभावी तरीके से क्रान्तिकारीकरण मशीनो-फैक्चर की संगठित व्यवस्था में हुआ है। इससे पहले कि हम इस पर गौर करें कि इस वस्तुगत संघटन में मानव सामग्री किस प्रकार निहित है, आइये हम मज़दूरों पर उपरोक्त कथित क्रान्ति के समान्य प्रभावों का अध्ययन करें।

जिस हद तक मशीनें मांसपेशियों की शक्ति की किसी विचारणीय खपत की ज़रूरत को खत्म करती हैं, उस हद तक वे अपेक्षाकृत कम ताक़त वाले मज़दूरों और अपरिपक्व शारीरिक विकास वाले किन्तु लचीले अंगों वाले लोगों के उपयोग का माध्यम बन जाती हैं। इसलिए महिलाओं और बच्चों का श्रम मशीनों के पूँजीवादी उपयोग का आरंभिक बिन्दु था! काम और मज़दूरों का यह ताक़तवर स्थानापन्न तेज़ी से रूपान्तरित होकर मज़दूर वर्गीय परिवार के सभी सदस्यों को लिंग और आयु के भेद के बिना पूँजी के प्रत्यक्ष प्रभाव में लाने के लिए उन्हें शामिल करके उजरती मज़दूरों की संख्या बढ़ाने का साधन बन जाता है। पूँजीपति के लिए जबरिया श्रम ने न सिर्फ़ बच्चों के खेलने की गुंजाइश को छीना बल्कि स्वयं परिवार के लिए किये जाने वाले सीमित ढंग के घरेलू क्षेत्र के मुक्त श्रम की भी जगह ले ली।

श्रमशक्ति का मूल्य व्यक्तिगत वयस्क मज़दूर के भरण-पोषण के लिए आवश्यक श्रमकाल से नहीं बल्कि मज़दूर-वर्गीय परिवार के भरण-पोषण के लिए आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता था। मज़दूर वर्ग के परिवार को श्रम बाज़ार में झोंककर मशीन इंसान की श्रमशक्ति के मूल्य को उसके पूरे परिवार तक फैला देती है और इस प्रकार उसके श्रमशक्ति के मूल्य को कम कर देती है।

चार मज़दूरों के किसी परिवार की श्रमशक्ति को खरीदने में अतीत में परिवार के प्रमुख की श्रमशक्ति खरीदने के मुकाबले संभवतः अधिक खर्च आयेगा; लेकिन खरीदने वाला एक की बजाय चार कार्यदिवस खरीद रहा है और एक के अतिरिक्त श्रम की बजाय चार के अतिरिक्त श्रम की अधिकता के अनुपात में क्रीम गिर जाती है। परिवार जीवित रह सके इसके लिए अब 4 लोगों को न सिर्फ़ काम करना होगा बल्कि उन्हें पूँजी को अतिरिक्त श्रम की आपूर्ति भी करनी होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुरू से ही पूँजीवादी शोषण का महत्वपूर्ण क्षेत्र बनाने वाली मानव सामग्री को बढ़ाने के साथ ही साथ मशीनरी शोषण की दर को भी बढ़ाती है।

मशीनरी मज़दूर और पूँजीपति के बीच के भेद – जो उनके पारस्परिक सम्बन्धों की औपचारिक अभिव्यक्ति है – में एक संपूर्ण क्रान्ति लाने का भी काम करती है। मालों के विनिमय को आधार मानते हुए, प्रमुख धारणा यह थी कि पूँजीपति और मज़दूर एक-दूसरे का आमना-सामना स्वतंत्र व्यक्तियों के रूप में, मालों के स्वतंत्र स्वामियों के रूप में करेंगे, उनमें से एक मुद्रा व उत्पादन के साधनों का स्वामी है और दूसरा श्रमशक्ति का स्वामी है। लेकिन पूँजी अब बच्चों या कम उम्र के लोगों को भी खरीद रही है।

पहले के दिनों में मज़दूर अपनी खुद की श्रमशक्ति बेचा करता था, इस रूप में वह प्रत्यक्षतः एक स्वतंत्र व्यक्ति हुआ करता था। अब वह अपनी पत्नी और बच्चों को भी बेचता है। वह एक दास व्यापारी बन जाता है....

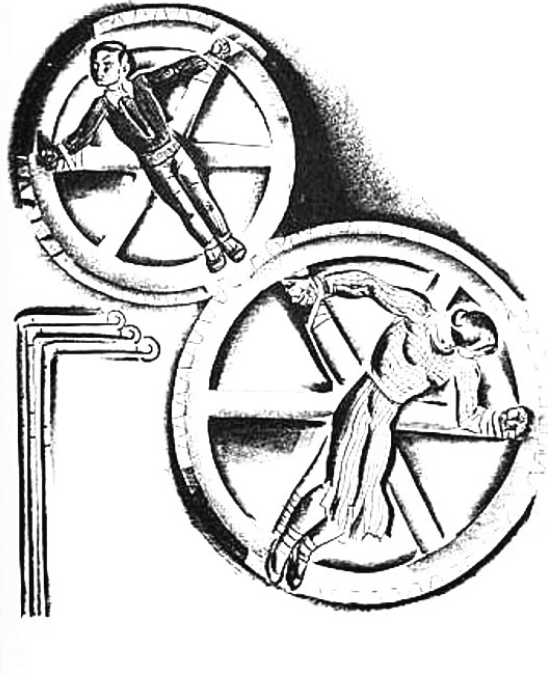
बहुत बड़े अनुपात में महिलाओं और बच्चों को अपने द्वारा नियुक्त मज़दूरों में शामिल करके मशीनें उस प्रतिरोध को तोड़ने में सक्षम रहीं जिसके द्वारा मैन्युफैक्चरिंग काल में पुरुष मज़दूर पूँजी की निरंकुशता का विरोध करते रहे थे....

(...फैक्टरी व्यवस्था की विस्तीर्ण होने की विराट क्षमता, जिस तरीके से वह दिन-दूनी रात-चौगुनी की रफ़्तार से उत्पादन बढ़ाती है, और विश्व बाज़ार पर उसकी निर्भरता ने अपरिहार्य रूप से उत्पादन में बेतहाशा तेज़ी लायी, बाज़ार में मालों के आधिक्य की स्थिति लायी और उसके बाद माँग की सापेक्षिक अपर्याप्तता और इसलिए उद्योग की पंगुता की स्थिति उत्पन्न हुई। मन्द गतिविधि, समृद्धि, अतिउत्पादन, संकट और गतिहीनता की अवधियों की शृंखला उद्योग के जीवन की विशेषता बन जाती है। इस औद्योगिक चक्र की नियमितता, जो अनिश्चितता और अस्थिरता मशीनोफैक्चर मज़दूर के पेशे पर और इसलिए उसके जीवन की सामान्य परिस्थितियों पर थोपती है, वे अब नियमित विशेषता बन जाती हैं। समृद्धता के काल के अलावा पूँजीपति सदैव बाज़ार में स्थान के लिए एक-दूसरे से प्रचण्ड प्रतिस्पर्द्धा करते हैं। प्रत्येक का हिस्सा उसके उत्पाद के सस्ते होने से प्रत्यक्ष रूप से समानुपाती होता है। सस्तेपन की यह ज़रूरत पूँजीपतियों में श्रमशक्ति को प्रतिस्थापित करने में सक्षम उन्नत मशीनों और उत्पादन की नई विधियों के लिए होड़ पैदा करती है। इसके अतिरिक्त हमेशा ऐसा समय (पेज 12 पर जारी)

# मार्क्स की 'पूँजी' को जानिये : चित्रांकनों के साथ

(पेज 11 से आगे)

आता है जब मज़दूरी को जबरन श्रमशक्ति के मूल्य से भी नीचे करके मालों को और भी सस्ता करने की कोशिश की जाती है।...



## मशीनरी और बड़े पैमाने का उद्योग: कार्यदिवस का बढ़ना

हालाँकि मशीनें श्रम की उत्पादकता बढ़ाने की, यानी किसी माल के उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम काल की मात्रा घटाने की, सबसे प्रबल साधन हो सकती हैं, लेकिन पूँजी के हाथों में उन्होंने जिन उद्योगों में अपनी पकड़ बनायी उनमें वे कार्यदिवस को प्रकृति द्वारा आरोपित सीमाओं से कहीं ज्यादा लम्बा करने की सबसे शक्तिशाली साधन बन गयीं। ऐसा इसलिए क्योंकि जहाँ एक ओर वे ऐसी नयी परिस्थितियाँ बनाती हैं जो इस दिशा में पूँजी को उसकी अभिन्न प्रवृत्ति के लिए खुली छूट देती हैं, वहीं दूसरी ओर वे पूँजी की दूसरों के श्रम की भूख मिटाने के लिए नयी प्रेरणा भी देती हैं।

सबसे पहले तो मशीनरी में श्रम के उपकरणों की गतियाँ और गतिविधियाँ मानो स्वयं का स्वतंत्र जीवन प्राप्त कर लेती हैं और इस प्रकार वे मज़दूर से जूझती हैं। मशीनरी एक प्रकार की सतत औद्योगिक गति का निर्माण करती है, जिन्हें अगर अपने मानवीय सहयोगी की कुछ बाधाओं – उनकी शारीरिक कमजोरियाँ और उनकी इच्छाशक्ति – का सामना न करना पड़े तो वे बिना रुके चलती रहेंगी।

यह स्वचालन मशीनरी की पूँजी है जिसे वह पूँजीपति के माध्यम से, उसकी चेतना और इच्छा दोनों से, प्राप्त करती है; इसलिए यह मानव सामग्री, जिसके माध्यम से वह काम करती है, की प्राकृतिक किन्तु लचीली सीमाओं द्वारा किये जाने वाले प्रतिरोध को कम से कम करने की इच्छा से अनुप्राणित होती है। इसके अतिरिक्त मानव सामग्री का प्रतिरोध मशीन पर काम के प्रतीतिगत आसानी के द्वारा और महिलाओं व बच्चों की भर्ती से कम हो जाता है जो पुरुषों की तुलना में आसानी से वश में आने वाले और विनीत होते हैं।

जैसाकि हमने देखा, मशीनरी की उत्पादकता पूर्ण वस्तु में उसके द्वारा हस्तान्तरित आवश्यक मूल्य के परिमाण के व्युत्क्रमानुपात में होती है। मशीन की उम्र जितनी ही अधिक होती है, उतने ही अधिक उत्पादों में वह अपना मूल्य हस्तान्तरित करती है, और इसलिए उसके द्वारा किसी एक माल में दिये गये मूल्य का अनुपात उतना ही कम होता है। परन्तु मशीन का सक्रिय जीवन ज़ाहिरा तौर पर कार्यदिवस की लम्बाई अथवा दैनिक श्रम प्रक्रिया की अवधि और उन दिनों की संख्या के गुणनफल पर निर्भर करता है जिनमें यह प्रक्रिया चलाई जाती है।

मशीन की घिसाई उसके इस्तेमाल के समय की गणितीय परिशुद्धता के सदृश नहीं होती। यदि वह होती तो भी, 7 ½ वर्षों की अवधि में 16 घण्टे प्रतिदिन काम करने वाली मशीन उतनी ही अवधि के लिए काम करती है और कुल उत्पाद को उतनी ही मात्रा में मूल्य हस्तान्तरित करती है जितनी कि वह तब करती जब वह 15 वर्षों तक 8 घण्टे प्रतिदिन काम करती, लेकिन पहले वाले मामले में मशीन का मूल्य बाद वाले के मुक़ाबले दोगुनी तेज़ी के साथ पुनरुत्पादित होगा, और पूँजीपति उस मशीन के इस्तेमाल से 7 ½ वर्षों में उतना ही अतिरिक्त मूल्य इकट्ठा कर लेगा जितना कि मशीन की आधी रफ़्तार से चलने पर वह 15 वर्षों में करता।....

इस प्रकार मशीनरी का पूँजीवादी अनुप्रयोग एक ओर कार्यदिवस को बढ़ाने का नया और शक्तिशाली प्रोत्साहन प्रदान करता है और श्रम के

तरीके और सामाजिक कार्यकारी संघटक के चरित्र दोनों को आमूलचूल तरीके से इस प्रकार बदल देता है कि वह इस प्रवृत्ति के हर विरोध को ध्वस्त करे। लेकिन दूसरी ओर आंशिक तौर पर पूँजीपति के लिए मज़दूर वर्ग का एक नया संस्तर खोलकर, जो पहले पहुँच से बाहर था, और आंशिक तौर पर अपने द्वारा प्रतिस्थापित मज़दूरों को मुक्त करके मशीनरी एक अतिरिक्त कार्यरत आबादी पैदा करती है जो पूँजी की तानाशाही के सामने झुकने के लिए विवश होती है।

यह आधुनिक उद्योग के इतिहास की सबसे उल्लेखनीय परिघटनाओं में से एक के कारण को बताता है; यह बताता है कि किस तरीके से मशीनरी कार्यदिवस पर लगने वाली सभी नैतिक व प्राकृतिक बंधिशों को खत्म कर देती है। यह इस आर्थिक विरोधाभास की भी व्याख्या करता है कि श्रमकाल को छोटा करने का सबसे शक्तिशाली उपकरण मज़दूर और उसके परिवार के समय के एक-एक क्षण को पूँजी का संचय करने के लिए पूँजीपति को सुपुर्द करने का साधन बन गया।



## मशीनें और बड़े पैमाने का उद्योग: श्रम की सघनता

इस प्रकार पूँजी के हाथ में मशीनरी का नतीजा कार्यदिवस की लम्बाई में अत्यधिक बढ़ोतरी के रूप में सामने आता है। जैसाकि हमने देखा कि यह अन्ततः श्रम को सघन बनाता है, जिसे मशीनरी के युग में पहले भी देखा जा सकता था, लेकिन अब यह कहीं ज्यादा स्पष्ट हो जाता है। जब हम निरपेक्ष अतिरिक्त मूल्य का विश्लेषण कर रहे थे तो हमारा सरोकार मुख्य रूप से श्रम के विस्तार पर था जबकि उसकी अवधि और उसकी सघनता को स्थिर माना गया था। अब हमें यह गौर करना होगा कि किस प्रकार अधिक सघनता कम विस्तार की जगह ले सकती है; हमें इस पर गौर करना है कि किस हद तक श्रम को सघन किया जा सकता है।

ज़ाहिरा तौर पर मशीनों के फैलाव और इस्तेमाल के अनुपात में और मशीनरी पर काम करने की आदत वाले मज़दूर वर्ग के सदस्यों में अनुभव एकत्र होने के अनुपात में श्रम तेज़ हो जाता है जिसकी वजह से मानो एक प्राकृतिक नियम के तौर पर सघनता बढ़ती है। अतः इंग्लैण्ड में आधी सदी के दौरान कार्यदिवस की लम्बाई में बढ़ोतरी फ़ैक्टरी श्रम की सघनता में बढ़ोतरी के साथ-साथ घटित हुई।

परन्तु यह स्पष्ट है कि यदि हम सघन श्रम के अस्थायी झोंके की बात नहीं बल्कि उस श्रम की बात कर रहे हैं जो अनिश्चितकाल के लिए और पूरी निरंतरता के साथ रोज़-ब-रोज़ करना होता है, तो निश्चित ही एक ऐसा महत्वपूर्ण बिन्दु आयेगा जिस पर कार्यदिवस का विस्तार और श्रम की सघनता परस्पर अपवर्जी होंगी, यानी कार्य दिवस में बढ़ोतरी केवल तभी हासिल की जा सकती है जब श्रम की सघनता कम की जाए और इसके उलट श्रम तभी सघन हो सकता है जब कार्यदिवस छोटा किया जाए।

जैसे ही मज़दूर वर्ग के क्रमशः बढ़ते हुए आक्रोश ने राज्य को कार्यदिवस पर कानूनी सीमा लगाने के लिए विवश कर दिया और तथाकथित रूप से फ़ैक्टरीयों में सामान्य कार्यदिवस कठोरता से लागू करने की शुरुआत हुई, उसी क्षण से, यानी जब कार्यदिवस बढ़ाकर अतिरिक्त मूल्य का उत्पादन बढ़ाना हमेशा के लिए असंभव बना दिया गया, पूँजी ने जानबूझकर और अपनी तमाम शक्ति के साथ मशीनरी फ़ैक्टरी के विकास को गति देकर अपने आप को सापेक्ष अतिरिक्त मूल्य के लिए समर्पित कर दिया।

श्रम के घण्टों में कमी श्रम की सघनता के लिए आवश्यक मनोगत परिस्थितियाँ प्रदान करती है क्योंकि इससे दिये गए समय में अधिक

ऊर्जा लगाने की मज़दूर की क्षमता बढ़ जाती है। जैसे ही कानूनी प्रावधानों के माध्यम से छोटा कार्यदिवस लागू किया जाता है, पूँजी के हाथ में मशीनरी का उपयोग वस्तुगत रूप से और व्यवस्थित रूप से दिये गए समय में अधिक श्रम निचोड़ने के लिए किया जाता है। ऐसा दो तरीकों से किया जाता है; पहला, मशीनों की गति बढ़ाकर, और दूसरा, मज़दूर के कार्यक्षेत्र को बढ़ाकर, उसे अधिक संख्या में मशीनों को संभालने की जिम्मेदारी देकर....

... वर्ष 1844 में लॉर्ड ऐशले, जो अब लॉर्ड शैफ़टेशबरी हैं, ने हाउस ऑफ़ कॉमन्स में दस्तावेज़ी प्रमाणों के साथ निम्न बयान दिया: 'मैन्युफ़ैक्चर की प्रक्रियाओं में लगे लोगों द्वारा किया जाने वाला श्रम ऐसे परिचालनों की शुरुआत में लगे श्रम की तुलना में तीन गुना अधिक है। निस्सन्देह मशीनरी ने ऐसे काम किये हैं जो लाखों व्यक्तियों की मांसपेशियों की माँग करते हैं; लेकिन इसने उन लोगों के श्रम को भी असाधारण रूप से कई गुना अधिक कर दिया है जो इसके भयावह गति के द्वारा संचालित होते हैं...'

इस तरीके से ट्वेल्थ आवर्स एक्ट के प्रभाव में श्रम ने जो उल्लेखनीय सघनता हासिल की है उसको देखते हुए उस समय के ब्रिटिश फ़ैक्टरी मालिकों के द्वारा किया गया दावा कुछ हद तक जायज़ लगता है कि उस दिशा में और प्रगति असंभव है, इसका आशय यह है कि कार्यदिवस में और अधिक कटौती का नतीजा उत्पादन में कटौती के रूप में आयेगा।

आइये अब 1847 के काल के बाद वापस लौटते हैं, जब टेन आवर्स एक्ट ब्रिटिश कपास, ऊन, सिल्क और फ्लैक्स टेक्सटाइल वर्क्स में लागू हुआ....

... यह पूर्ण रूप से निर्विवाद है कि जैसे ही कार्यदिवस को बढ़ाया जाना हमेशा के लिए प्रतिबंधित किया जाता है, पूँजी की प्रवृत्ति श्रम की सघनता व्यवस्थित रूप में बढ़ाकर इस कमी को पूरा करने की होती है, और श्रमशक्ति से सबसे प्रभावी तरीके से अधिक से अधिक निकालने के लिए मशीनरी में हुए हर सुधार को इस्तेमाल करने की पूँजी की यह प्रवृत्ति लंबे समय में ऐसी परिस्थिति बना देगी जिसमें श्रम के घण्टों को और कम करना अवश्यभावी होगा...



## मशीनरी और बड़े पैमाने का उद्योग: फ़ैक्टरी

... हमने देखा कि किस प्रकार मशीनरी के कारण महिलाओं और बच्चों के श्रम को ऋबूजे में करने से शोषण के लिए मानव सामग्री के परिमाण में बढ़ोतरी होती है; किस प्रकार वह कार्यदिवस के असामान्य विस्तार से मज़दूर के समूचे जीवन-काल पर अपनी पकड़ मजबूत कर लेती है; और किस प्रकार उसकी प्रगति, जो कम से कम समय में उत्पादन में पहले के मुक़ाबले ज़बरदस्त बढ़ोतरी करना संभव बनाती है, एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करने का साधन बनती है जिससे कम से कम समय में अधिक से अधिक काम किये जाते हैं – एक ऐसे साधन के रूप में जिसके द्वारा श्रमशक्ति अधिक से अधिक सघनता से शोषित की जा सकती है। आइये अब हम समूचे रूप में फ़ैक्टरी पर विचार करने की ओर बढ़ते हैं, फ़ैक्टरी अपने सर्वाधिक विकसित रूप में....

औजारों के साथ ही उनका इस्तेमाल करने का मज़दूर का हुनर भी मशीन को हस्तान्तरित हो जाता है। औजार की कार्यकारी क्षमता अब मज़दूर की श्रमशक्ति पर लगी व्यक्तिगत बंधिशों से मुक्त हो जाती है। यह उस तकनीकी आधार को उखाड़ देता है जिसपर मैन्युफ़ैक्चरिंग श्रम-विभाजन टिका होता है। विशिष्ट मज़दूरों के पदसोपानक्रम, जो मैन्युफ़ैक्चरिंग श्रम-

(पेज 13 पर जारी)

## पूँजीवाद का एक और घिनौना पहलू

# सिर पर छत की खातिर नैतिकता की नीलामी के लिए मजबूर लोग

इंग्लैंड की एक वेबसाइट द्वारा किये गये सर्वेक्षण में 28% लोगों ने माना कि वे सिर पर छत की खातिर अपने मकान मालिक या पार्टनर के साथ बिना मर्जी के यौन संबंध बनाने के लिए मजबूर हैं। इस सर्वेक्षण में 2,040 लोगों ने हिस्सा लिया और 28% लोगों ने माना कि वे आर्थिक तंगी के कारण मकान का किराया नहीं दे सकते, इस कारण उनको अपने साथी, दोस्त, मकान मालिक के साथ यौन संबंधों में रहना पड़ता है। एक और सर्वेक्षण के अनुसार बेघरों के लिए काम करने वाली संस्था होमलैस चैरिटी ने एक रिपोर्ट जारी की कि होमलैस सर्विस इस्तेमाल करने वाले लोगों की ओर से रिपोर्ट की गयी कि वह बेघरी के डर से असहमत यौन संबंध में रहते हैं। इस रिपोर्ट में ना सिर्फ औरतें बल्कि मर्द भी शामिल हैं।

"हमें एक-दूसरे से प्रेम नहीं है, लेकिन लगता है कि जब तक कर्ज नहीं चुका जाता तब तक ऐसे ही रहना होगा।"

सर्वेक्षण के दौरान एक आदमी की ओर से कहे गये ये शब्द दर्शाते हैं कि बेघरी के डर से लोगों को हालात

के आगे घुटने टेकने पड़ रहे हैं। जैसे-जैसे पूँजीवाद संकट में फँसता जा रहा है, वैसे-वैसे आम लोग इसकी पैदा की गयी गंदगी में और भी गहरे डूब रहे हैं। आम लोग अपनी प्राथमिक जरूरतें पूरी करने में असमर्थ हैं। रिश्ते खोखले हो रहे हैं। एक ओर तो लोगों के दिमागों में पोर्नोग्राफी तथा और बुराइयाँ पूँजीवाद द्वारा लगातार भरी जाती हैं, दूसरी ओर बेरोज़गारी से तंग और अपनी प्राथमिक जरूरतों की पूर्ति में असमर्थ लोग इस जाल में फँसते जा रहे हैं। पूँजीवाद के संकट ने अमीर देशों में भी लाखों लोगों को खाली जेबों सहित सड़कों पर ला फेंका है। बेघर लोगों के पास दो रास्ते ही बचे हैं या तो वह सड़क पर सोयें या फिर अपराधों की दुनिया में फँस जायें।

वर्ष 2011 में इंग्लैंड में जारी किये गए आँकड़ों के अनुसार 1,07,060 लोग बेघर थे जो पिछले वर्षों के दौरान 10% की दर से बढ़ते जा रहे हैं। वर्ष 2011 में स्नैपशॉट ने एक सर्वेक्षण किया कि लगभग 2200 लोग सर्दियों की रातों में लंदन की गलियों में सोने के लिए मजबूर थे जो कि वर्ष 2010 के मुकाबले 23%

अधिक थे। इनमें से बड़ी गिनती में 16 से 25 वर्ष के नौजवान थे। कुल बेघरों में से 57% अपने पार्टनर द्वारा मारपीट और यौन हिंसा का शिकार रह चुके हैं। इनमें से 20% 18 से 25 वर्ष के हैं और इसका 44% अर्थात् लगभग आधे बेरोज़गार हैं और बाकी अपना गुजारा करने लायक कमाई नहीं कर पा रहे।

सन् 2000 के एक और सर्वेक्षण के अनुसार 42% औरतों ने बताया कि उनके साथी द्वारा उनके बच्चों के साथ यौन संबंध बनाए जाते थे, 63% औरतों ने बताया कि उनको बेघर होने से पहले सिर पर छत के लिए अपने साथी द्वारा यौन संबंधों, मारपीट और यौन हिंसा का शिकार होना पड़ता था। कुछ बेघर औरतों में से 13% कम से कम एक या दो बार बलात्कार का शिकार रह चुकी हैं। ना सिर्फ औरतें बल्कि आदमी भी इसका शिकार हैं। पीड़ित मर्दों और औरतों पर किए गए सर्वेक्षण में ऐसे तथ्य सामने आए कि वह किसी शारीरिक या मानसिक बीमारी के शिकार हो चुके हैं। इनमें से 45% से ज्यादा आत्महत्या की कोशिश, 47% डिप्रेशन, 45% नशे

आदि के शिकार हैं।

एक ओर शारीरिक और मानसिक हिंसा सह चुके लोग सड़कों पर आ रहे हैं और दूसरी ओर सड़क पर रह रहे बेघर लोग जिस्मफरोशी जैसी बुराइयों को गले लगाने के लिए मजबूर हैं। बेघरों में से 11% औरतें यौन पार्टनरशिप के लिए समझौता कर लेती हैं। यह आंकड़ा 14% की दर से बढ़ रहा है। यह तो सिर्फ आंकड़ों की बात है, इसके बिना यह छुपी हुई बेघरी और हिंसा अलग है। औरतें बेघर होने के डर से और अपने परिवार का खर्चा चलाने के लिए वेश्यावृत्ति करने को मजबूर हैं। कई बार मकान का किराया ना दे सकने पर मकान मालिक द्वारा शारीरिक शोषण किया जाता है और मजबूरी के कारण चुप चाप सह लेती हैं।

इतना ही नहीं इंग्लैंड में एक सर्वेक्षण में आश्चर्यजनक आंकड़े सामने आये हैं जिनके अनुसार:

- हर 4 में से 1 या ज्यादा अर्थात् 28% औरतों और 14% मर्द यह मानते हैं कि सिर पर छत खातिर असहमत यौन संबंधों में रह रहे हैं।

- 19% औरतों और 3% मर्दों ने शिकायत की कि उनको सड़क पर सोने के दौरान कई बार सैक्स वर्क करने के ऑफर आए।

- 28% लोग इस कारण छोटे-मोटे अपराध या समाज विरोधी काम करते हैं जिससे पुलिस उनको हिरासत में ले ले और वह सर्दी की रातें जेल के अंदर गुजार सकें।

- 20% गिरफ्तार लोग जमानत से कतराते हैं क्योंकि उनके पास घर नहीं है।

- 18% लोगों ने माना कि वह जानबूझ कर खुद को ज़ख्मी करके अस्पताल में भर्ती रहते हैं।

पूँजीवाद के आदर्श और भारतीय पूँजीवादी बुद्धिजीवियों के मॉडल इंग्लैंड जैसे विकसित देशों के पास भी इन समस्याओं का कोई ठोस हल नहीं तो भारत जैसे विकासशील देशों के लिए तो यह सपना देखना भी आसमान छूने वाली बात है। पूँजीवादी व्यवस्था के अन्दर इन समस्याओं का हल असंभव है, क्योंकि पूँजीवाद ही इन बुराइयों का जन्मदाता है।

- बलजीत

## साम्राज्यी युद्धों की भेंट चढ़ता बचपन

2016 के जुलाई महीने में यूनीसेफ द्वारा जारी रिपोर्ट बच्चों और नौजवानों पर पड़ते युद्ध के भयानक प्रभावों के नतीजे सामने लाती है। रिपोर्ट के अनुसार दूसरे विश्व युद्ध के बाद यह पहली बार हुआ है कि इतनी बड़ी गिनती में बच्चे युद्ध, संकट और प्राकृतिक आपदा के शिकार हुए हैं। इस रिपोर्ट के अनुसार लगभग 25 करोड़ बच्चे युद्ध प्रभावित क्षेत्र में पलने के लिए मजबूर हैं। ऐसे क्षेत्र में वे मुल्क आते हैं जिनकी युद्ध या घरेलू युद्ध के साथ तबाही हो गई है जैसे कि अफगानिस्तान, इराक, सीरिया, यमन, फ़िलिस्तीन तथा कई और भी अर्थात् वह मुल्क जिनको साम्राज्यी दखलन्दाजी ने पिछले 10-15 वर्षों दौरान युद्ध के मुंह में धकेल दिया है।

सिर्फ 2015 में ऐसे युद्ध प्रभावित क्षेत्रों में 1 करोड़ 60 लाख बच्चे पैदा हुए हैं।

यह रिपोर्ट इन क्षेत्रों में रह रहे बच्चों के बारे में कुछ और तथ्य सामने लाती है-

1. विश्व भर में 7 करोड़ 50 लाख बच्चे तीन से अठारह वर्ष की आयु के बीच किंडरगार्डन या स्कूल में दाखिल नहीं हो सके। युद्ध के कारण डर के माहौल में इनकी पढ़ाई लगातार और नियमित ढंग से नहीं चल सकी।

2. प्रतिदिन औसतन 4 स्कूल या अस्पताल हथियारबंद ताकतों का निशाना बनते हैं। सिर्फ अफगानिस्तान में 2014 में 164 और इराक में 67 स्कूलों को निशाना बनाया गया। नाइजीरिया में बोको हरम नाम के इस्लामी कट्टरपंथी

संगठन ने अब तक 1200 स्कूलों को तबाह कर दिया है और 600 अध्यापकों का बेरहमी के साथ कत्ल कर चुका है।

3. सिर्फ 2015 दौरान सीरिया में यूनीसेफ के पास बच्चों के हकों की गम्भीर उल्लंघना करने के 1500 केस रजिस्टर हुए। रिपोर्ट के अनुसार यह सिर्फ हो रहे ज़ुल्म का थोड़ा हिस्सा ही था। 60% बच्चे या तो बम हमलों में मारे गये या बुरी तरह ज़ख्मी हो गये। एक तिहाई बच्चों को स्कूल जाते समय रास्ते में शिकार बनाया गया।

4. इन इलाकों में बहुत सारे बच्चे कई वर्ष स्कूल में हाज़िर नहीं हो सके क्योंकि स्कूलों को तबाह कर दिया गया या रास्ते खतरे से खाली नहीं थे और कई बार तो किताबें और पैन खरीदने के लिए

भी पैसे नहीं थे। इसी रिपोर्ट के अनुसार "5 वर्ष से छोटे लाखों सीरियन लड़के और लड़कियों को युद्ध और हवाई हमलों के बिना और कुछ सोचते नहीं"।

5. हां यह भी वही बच्चे हैं जिनको कवि कलियाँ और नए खिले फूल कह कर अपनी कविता में रंग भरता है। लेकिन अगर खिलने से पहले ही फूलों को कुचल दिया जाये, जब स्कूल का रास्ता जंगली भेड़ियों के बीच से होकर जाता हो और आसमान पर मंडराने वाले ज़हरीले नाग उन पर हमला करने को तैयार बैठे हों तो बचपन कितना भयंकर हो सकता है यह हमारी सोच से भी बाहर है।

इन मुल्कों में युद्ध के लिए साम्राज्यवादी मुल्क ही जिम्मेवार हैं जो

प्राकृतिक संसाधनों पर कब्ज़ा करके मुनाफा कमाने की दौड़ में बेकसूर और मासूम बच्चों को मारने से भी नहीं झिझकते। युद्ध के उजाड़े गए इन लोगों को धरती के किसी टुकड़े पर शरण भी नहीं मिल रही और यूरोप भर की सरकारें इनको अपने-अपने मुल्कों में भी शरण देने को तैयार नहीं हैं।

ऐसे युद्धों के अपराधों के लिए जिम्मेवार पूँजीवादी व्यवस्था से तो एक दिन मेहनतकश लोग ज़रूर इंसाफ लेंगे पर सवाल हमारे सामने यह है हम नौजवान ऐसे बर्बर व्यवस्था को उखाड़ कर नयी व्यवस्था बनाने के लिए कब आगे आयेंगे?

- सिक्ंदर

### (पेज 12 से आगे)

विभाजन की अभिलाक्षणिकता थी, की बजाय हम पाते हैं कि स्वचालित फ़ैक्टरी में काम के समानीकरण या समतलीकरण की प्रवृत्ति होती है जिसे मशीनरी के सहायकों को करना होता है। विस्तृत मजदूरों के बीच के कृत्रिम अन्तर का स्थान मुख्य रूप से उम्र और लिंग के अन्तर ने ले लिया है...

मैनुफैक्चर और हस्तशिल्प में मजदूर किसी औजार का उपयोग करता है; फ़ैक्टरी में वह मशीन की सेवा करता है। पहले वाले मामले में श्रम के औजारों की हरकतें मजदूर के मातहत होती हैं; लेकिन बाद वाले में मजदूर की हरकतें मशीन के मातहत होती हैं।

मैनुफैक्चर में मजदूर एक जीवित प्रक्रिया के अंग होते हैं। फ़ैक्टरी में उनसे स्वतंत्र एक निर्जीव प्रक्रिया होती है, और वे उस प्रक्रिया में उसके पिछलग्गू के रूप में शामिल रहते हैं।

‘लगातार अरुचिकर काम और कड़ी मेहनत की नीरस दिनचर्या, जिसमें एक ही यांत्रिक प्रक्रिया निरंतर दोहरायी जाती है, सिसीफ़स (ग्रीक पौराणिक कथाओं का एक राजा जिसे एक चट्टान को अनन्त काल तक पहाड़ी पर चढ़ाते रहने की सज़ा मिली थी) के सन्ताप जैसा है - चट्टान की ही तरह मेहनत हमेशा कुम्हलाये हुए मजदूर की ओर वापस लुढ़क जाती है।’

मशीन पर श्रम करने का स्नायु तंत्र पर बहुत कष्टदायी प्रभाव तो होता

ही है, साथ ही यह मांसपेशियों की बहुरूपीय गतिविधि को भी बाधित करता है और स्वतंत्र शारीरिक व मानसिक गतिविधि को निषिद्ध करता है। यहाँ तक कि श्रम का बोझ हल्का करना भी यातना देने का साधन बन जाता है क्योंकि मशीन मजदूर को उसके काम से मुक्त नहीं करती है, वह बस उसे उसकी रूचि के क्षेत्र से वंचित कर देती है।

हर प्रकार के पूँजीवादी उत्पादन, जिस हद तक वे महज श्रम प्रक्रियाएँ नहीं बल्कि पूँजी के स्व-विस्तार को प्रोत्साहित करने की प्रक्रियाएँ भी हैं, में यह चीज़ साझा है कि उनमें मजदूर श्रम के औजारों का इस्तेमाल नहीं करते, बल्कि श्रम के औजार मजदूर का इस्तेमाल करते हैं। हालाँकि केवल मशीन उत्पादन में ही यह उलटाव एक तकनीकी और सुस्पष्ट वास्तविकता बन पाते हैं।

स्वचालन के इस रूपान्तरण के जरिये श्रम का औजार श्रम की प्रक्रिया के दौरान मजदूर के सामने पूँजी अथवा मृत श्रम के रूप में होता है, जो कि जीवित श्रम को नियंत्रित करता है और उसे निचोड़ डालता है।

उत्पादन की प्रक्रिया की बौद्धिक शक्तियों का शारीरिक श्रम से अलगाव, और इन शक्तियों का श्रम पर पूँजी की शक्तियों में रूपान्तरण मशीन उत्पादन पर आधारित बड़े-पैमाने के उद्योग में पूरा होता है (जैसा कि पहले इंगित किया गया था)। इस प्रकार निचोड़ा जाने वाला मशीन पर काम करने वाले प्रत्येक मजदूर का व्यक्तिगत विशिष्ट कौशल, मशीन तंत्र

में निहित उस विज्ञान के, प्रकृति की उन विराट शक्तियों के और सामाजिक श्रम के पुंज के मुक्काबले एक महत्वहीन चीज़ बनकर रह जाता है जिसके कारण "मालिक" के हाथ में इतनी ताकत होती है। इस मालिक का, जिसके दिमाग में मशीनरी और उसपर उसकी इजारेदारी अविच्छिन्न रूप से गुंथी होती है, जब भी अपने "हाथों" से तकरार होता है तो वह उनसे तिरस्कारपूर्वक कहता है, "फ़ैक्टरी के मजदूरों को यह बात गाँठ बाँधकर रख लेनी चाहिए कि उनका श्रम वास्तव में निम्न प्रजाति का कुशल श्रम है; और यह कि दूसरा ऐसा कोई श्रम नहीं है जिसे इतनी आसानी से हासिल किया जा सकता हो, या जो इस गुणवत्ता का इससे अधिक पारिश्रमिक वाला हो, या जो कम से कम विशेषज्ञों द्वारा एक लघु प्रशिक्षण से ज्यादा जल्दी और साथ ही अधिक पूर्णता के साथ सीखा जा सकता हो...मालिक की मशीनरी वाकई उत्पादन के कारोबार में श्रम और मजदूर के कौशल से कहीं अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है और यह कौशल मात्र छह महीने प्रशिक्षण से आसानी से सिखाया जा सकता है और एक साधारण मजदूर भी सीख सकता है।"...

अनुवाद: आनन्द सिंह

## असगर वजाहत की कहानी के कुछ अंश

# ज़ख्म

...  
कुछ महीनों की लगातार बातचीत के बाद हम लोगों के बीच कुछ बुनियादी बातें साफ हो चुकी थीं। उसे सबसे बड़ी दिलचस्पी इस बात में पैदा हो गयी थी कि दंगे कैसे रोके जा सकते हैं। हम दोनों ये जानते थे कि दंगे पुलिस, पी.ए.सी. प्रशासन नहीं रोक सकता। दंगे साम्प्रदायिक पार्टियां भी नहीं रोक सकतीं, क्योंकि वे तो दंगों पर ही जीवित हैं। दंगों को अगर रोक सकते हैं तो सिर्फ लोग रोक सकते हैं।

'लेकिन लोग तो दंगे के जमाने में घरों में छिपकर बैठ जाते हैं।' उसने कहा।

'हां, लोग इसलिए छिपकर बैठ जाते हैं क्योंकि दंगा करने वालों के मुकाबले वो मुत्तहिद नहीं हैं. . . अकेला महसूस करते हैं अपने को. . . और अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता। जबकि दंगा करने वो 'आरगेनाइज' होते हैं. . . लेकिन जरूरी ये है कि दंगों के खिलाफ जिन लोगों को संगठित किया जाये उनमें हिंदू-मुसलमान दोनों हों. . . और उनके ख्यालात इस बारे में साफ हों।'

'लेकिन ये काम करेगा कौन?'

'हम ही लोग, और कौन?'

'लेकिन कैसे?'

'अरे भाई, लोगों से बातचीत करके. . . मीटिंगें करके. . . उनको बता-समझाकर. . . मैं कहता हूँ शहर में हिंदू-मुसलमानों का अगर दो सौ ऐसे लोगों का ग्रुप बन जाये जो जान पर खेलकर भी दंगा रोकने की हिम्मत रखते हों तो दंगा करने वालों की हिम्मत परस्त हो जायेगी। तुम्हें मालूम होगा कि दंगा करने वाले बुजदिल होते हैं। वो किसी 'ताकत' से नहीं लड़ सकते। अकेले-दुकेले को मार सकते हैं, आग लगा सकते हैं, औरतों के साथ बलात्कार कर सकते हैं, लेकिन अगर उन्हें पता चल जाये कि सामने ऐसे लोग है। जो बराबर की ताकत रखते हैं, उनमें हिंदू भी हैं और मुसलमान भी, तो दंगाई सिर पर पैर रखकर भाग जायेंगे।'

वह मेरी बात से सहमत था और हम अगले कदम पर गौर करने की स्थिति में आ गये थे। मुख्तार इस सिलसिले में कुछ नौजवानों से मिला भी था।

कुछ साल के बाद हम दिल्ली में फिर साथ हो गये। मैं दिल्ली में धंधा कर रहा था और वह कनाट प्लेस की एक दुकान में काम करने लगा था और जब दिल्ली में दंगा हुआ और

ये पता चला कि कस्साबपुरा भी बुरी तरह प्रभाव में है तो मुझे मुख्तार की फिक्र हो गयी। दूसरी तरफ मुख्तार के साथ जो कुछ घटा वह कुछ इस तरह था। . . शाम का छः बजा था। वह मशीन पर झुका काम कर रहा था। दुकान मालिक सरदारजी ने उसे खबर दी कि दंगा हो गया है और उसे जल्दी-से-जल्दी घर पहुंच जाना चाहिए।

पहाड़गंज में बस रोक दी गयी थी। क्योंकि आगे दंगा हो रहा था। पुलिस किसी को आगे जाने भी नहीं दे रही थी। मुख्तार ने मुख्य सड़क छोड़ दी और गलियों और पिछले रास्तों से आगे बढ़ने लगा। गलियां



तक सुनसान थीं। पानी के नलों पर जहां इस वक्त चांव-चांव हुआ करती थी, सिर्फ पानी गिरने की आवाज आ रही थी। जब गलियों में लोग नहीं होते तो कुत्ते ही दिखाई देते हैं। कुत्ते ही थे। वह बचता-बचाता इस तरह आगे बढ़ता रहा कि अपने मोहल्ले तक पहुंच जाये। कभी-कभार और कोई घबराया परेशान-सा आदमी लंबे-लंबे कदम उठाता इधर से उधर जाता दिखाई पड़ जाता। एक अजीब भयानक तनाव था जैसे ये इमारतें बारूद की बनी हुई हों और ये सब अचानक एक साथ फट जायेंगे। दूर से पुलिस गाड़ियों से सायरन की आवाजें भी आ रही थीं। कस्साबपुरे की तरफ से हल्का-हल्का धुआं आसमान में फैल रहा था। न जाने कौन जल रहा होगा, न जाने कितने लोगों के लिए संसार खत्म हो गया होगा। न जाने जलने वालों में कितने बच्चे, कितनी औरतें होंगी। उनकी क्या गलती होगी? उसने सोचा अचानक एक बंद दरवाजे के पीछे से किसी औरत की पंजाबी में कांपती हुई आवाज गली तक आ गयी। वह पंजाबी बोल नहीं पाता था लेकिन समझ लेता था। और कह रही थी, बबलू अभी तक नहीं

लौटा। मुख्तार ने सोचा, उसके बच्चे भी घर के दरवाजे पर खड़े झिरियों से बाहर झांक रहे होंगे। शाहिदा उसकी सलामती के लिए नमाज पढ़ रही होगी। भइया छत पर खड़े गली में दूर तक देखने की कोशिश कर रहे होंगे। छत पर खड़े एक-दो और लोगों से पूछ लेते होंगे कि मुख्तार तो नहीं दिखाई दे रहा है। उसके दिमाग में जितनी तेजी से ये ख्याल आ रहे थे उतनी तेज उसकी रफ्तार होती जाती थी। सामने पीपल के पेड़ से कस्साबपुरा शुरू होता है और पीपल का पेड़ सामने ही है। अचानक भागता हुआ कोई आदमी हाथ में कनस्तर लिये गली में आया और मुख्तार

को देखकर एक पतली गली में घुस गया। अब मुख्तार को हल्का-हल्का शोर भी सुनाई पड़ रहा था। पीपल के पेड़ के बाद खतरा न होगा, क्योंकि यहां से मुसलमानों की आबादी शुरू होती थी। ये सोचकर मुख्तार ने दौड़ना शुरू कर दिया। पीपल के पेड़ के पास पहुंचकर मुड़ा और उसी वक्त हवा में उड़ती कोई चीज उसके सिर से टकराई और उसे लगा कि सिर आग हो गया है। दहकता हुआ अंगारा। उसने दोनों हाथों से सिर पकड़ लिया और भागता रहा। उसे ये समझने में देर नहीं लगी कि एसिड का बल्ब उसके सिर पर मारा गया है। सर की आग लगातार बढ़ती जा रही थी और वह भागता जा रहा था। उसे लगा कि वह जल्दी ही घर न पहुंच गया तो गली में गिरकर बेहोश हो जायेगा और वहां गिरने का नतीजा उसकी लाश पुलिस ही उठाएगी। दोनों बच्चों के चेहरे उसकी नजरों में घूम गये।

दंगा खत्म होने के बाद मैं मुख्तार को देखने गया। उसके बाल भूरे जैसे हो गये थे और लगातार गिरते थे। सिर की खाल बुरी तरह जल गयी थी और ज़ख्म हो गये थे। एसिड का बल्ब लगने के बराबर ही भयानक दुर्घटना

ये हुई थी कि जब वह घर पहुंचा था तो उसे पानी से सिर नहीं धोने दिया गया था। सबने कहा था कि पानी मत डालो। पानी डालने से बहुत गड़बड़ हो जायेगी। और वह खुद ऐसी हालत में नहीं था कि कोई फैसला कर सकता। आठ दिन कर्पू चला था और जब वह डॉक्टर के पास गया था तो डॉक्टर ने उसे बताया था कि अगर वह फौरन सिर धो लेता तो इतने गहरे ज़ख्म न होते।

दंगे के बाद साम्प्रदायिक सद्भावना स्थापित करने के लिए सम्मेलन किये जाने की कड़ी में इन दंगों में तीन महीने बाद सम्मेलन हुआ। सम्मेलन में मैंने सोचा मुख्तार को ले चलना चाहिए। उसे एक दिन की छुट्टी करनी पड़ी और हम दोनों राजधानी की वास्तविक राजधानी- यानी राजधानी का वह हिस्सा जहां चौड़ी साफ सड़कें, सायादार पेड़, चमचमाते हुए फुटपाथ, उंचे-उंचे बिजली के खम्बे और चिकनी-चिकनी इमारतें हैं और वैसे ही चिकने-चिकने लोग हैं। मुख्तार भव्य इमारत में घुसने से पहले कुछ हिचकिचाया, लेकिन मेरे बहादुरी से आगे बढ़ते रहने की वजह से उसमें कुछ हिम्मत आ गयी और हम अंदर आ गये। अंदर काफी चहल-पहल थी। विश्वविद्यालयों के छात्र, अध्यापक, संस्थानों के विद्वान, बड़े सरकारी अधिकारी, दफ्तरों में काम करने वाले लोग, सभी थे। उनमें से अधिकतर चेहरे देखे हुए थे। वे सब वामपंथी राजनीति या उसके जन-संगठनों में काम करने वाले लोग थे। कहां कलाकार, लेखक, बुद्धिजीवी, पत्रकार, रंगकर्मी और संगीतज्ञ भी थे। पूरी भीड़ में मुख्तार जैसे शायद ही चन्द रहे हों या न रहे हों, कहा नहीं जा सकता।

अंदर मंच पर बड़ा-सा बैनर लगा हुआ था। इस पर अंग्रेजी, हिंदी और उर्दू में 'साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलन' लिखा था। मुझे याद आया कि वही बैनर है जो चार साल पहले हुए भयानक दंगों के बाद किये गये सम्मेलन में लगाया गया था। बैनर पर तारीखों की जगह पर सफेद कागज चिपकाकर नयी तारीखें लिख दी गयी थीं। मंच पर जो लोग बैठे थे वे भी वही थे जो पिछले और उससे पहले हुए साम्प्रदायिकता विरोधी सम्मेलनों में मंच पर बैठे हुए थे। सम्मेलन होने की जगह भी वही थी। आयोजक भी वही थे। मुझे याद आया। पिछले सम्मेलन के एक आयोजक से सम्मेलन के बाद मेरी कुछ बातचीत हुई थी और

मैंने कहा था कि दिल्ली के सर्वथा भद्र इलाके में सम्मेलन करने तथा ऐसे लोगों को ही सम्मेलन में बुलाने का क्या फायदा है जो शत-प्रतिशत हमारे विचारों से सहमत हैं। इस पर आयोजक ने कहा था कि सम्मेलन मज़दूर बस्तियों, घनी आबादियों तथा उपनगरीय बस्तियों में भी होंगे। लेकिन मुझे याद नहीं कि उसके बाद ऐसा हुआ हो।

हाल में सीट पर बैठकर मुख्तार ने मुझसे यही बात कही। वह बोला 'इनमें तो हिंदू भी हैं और मुसलमान भी।'

मैंने कहा, 'हां!'

वह बोला, 'अगर ये सम्मेलन कस्साबपुरा में करते तो अच्छा था। वहां के मुसलमान ये मानते ही नहीं कि कोई हिंदू उनसे हमदर्दी रख सकता है।'

'वहां भी करेंगे. . . लेकिन अभी नहीं।' तभी कार्यवाही शुरू हो चुकी थी। संयोजक ने बात शुरू करते हुए साम्प्रदायिक शक्तियों की बढ़ती हुई ताकत तथा उसके खतरों की ओर संकेत किया। यह भी कहा कि जब तक साम्प्रदायिकता को समाप्त नहीं किया जायेगा तब तक जनवारी शक्तियां मजबूत नहीं हो सकतीं। उन्होंने यह आश्वासन भी दिया कि अब सब संगठित होकर साम्प्रदायिक रूपी दैत्य से लड़ेंगे। इस पर लोगों ने जोर की तालियां बजायीं और सबसे पहले अल्पसंख्यकों के विश्वविद्यालय के उप-कुलपति को बोलने के लिए आमंत्रित किया। उप-कुलपति आई.ए.एस. सर्विसेज में थे। भारत सरकार के उंचे ओहदों पर रहे थे। लंबा प्रशासनिक अनुभव था। उनकी पत्नी हिंदू थी। उनकी एक लड़की ने हिंदू लड़के से विवाह किया था। लड़के की पत्नी अमरीकन थी। उप-कुलपति के प्रगतिशील और धर्म निरपेक्ष होने में कोई संदेह न था। वे एक ईमानदार और प्रगतिशील व्यक्ति के रूप में सम्मानित थे। उन्होंने अपने भाषण में बहुत विद्वत्तापूर्ण ढंग से साम्प्रदायिकता की समस्या का विश्लेषण किया। उसके खतरनाक परिणामों की ओर संकेत किये और लोगों को इस चुनौती से निपटने को कहा। कोई बीस मिनट तक बोलकर वे बैठ गये। तालियां बजीं।

मुख्तार ने मुझसे कहा, 'प्रोफेसर साहब की समझ तो बहुत सही है।'

'हां, समझ तो उन सब लोगों की बिलकुल सही है जो यहां मौजूद हैं।' (पेज 14 पर जारी)

# जरूरी

'तो फिर?'  
तब तक दूसरे वक्ता बोलने लगे थे। ये एक सरदार जी थे। उनकी उम्र अच्छी-खासी थी। स्वतंत्रता सेनानी थे और दसियों साल पहले पंजाब सरकार में मंत्री रह चुके थे। उन्होंने अपने बचपन, अपने गांव और अपने हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख दोस्तों के संस्मरण सुनाये। उनके भाषण के दौरान लगभग लगातार तालियां बजती रहीं। फिर उन्होंने दिल्ली के हालिया दंगों पर बोलना शुरू किया।  
मुख्तार ने मेरे कान में कहा, 'सरदार जी दंगा कराने वालों के नाम क्यों नहीं ले रहे हैं?' बच्चा-बच्चा जानता है दंगा किसने कराया था।

मैंने कहा, 'बचपने वाली बातें न करो। दंगा कराने वालों के नाम ले दिये तो वे लोग इन पर मुकदमा ठोक देंगे।'

'तो मुकदमे के डर से सच बात न कही जाये?'  
(पेज 14 से आगे)

'तुम आदर्शवादी हो। आइडियलिस्ट...'

'ये क्या होता है?' मुख्तार बोला।  
'अरे यार, इसका मकसद दंगा कराने वालों के नाम गिनाना तो है नहीं।'

'फिर क्या मकसद है इनका?'  
'बताना कि फिरकापरस्ती कितनी खराब चीज है और उसके कितने बुरे नतीजे होते हैं।'

'ये बात तो यहां बैठे सभी लोग मानते हैं। जब ही तो तालियां बजा रहे हैं।'

'तो तुम क्या चाहते हो?'  
'ये दंगा करने वालों के नाम बतायें।' मुख्तार की आवाज तेज हो गई। वह अपना सिर खुजलाने लगा।

'नाम बताने से क्या फायदा होगा?'

'न बताने से क्या फायदा होगा?'  
स्वतंत्रता सेनानी का भाषण जारी था। वे कुछ किये जाने पर बोल रहे थे। इस पर जोर दे रहे थे कि इस लड़ाई को गलियों और खेतों में लड़ने की जरूरत है। स्वतंत्रता सेनानी के बाद एक लेखक को बोलने के लिए बुलाया गया। लेखक ने साम्प्रदायिकता के विरोध में लेखकों को एकजुट होकर संघर्ष करने की बात उठाई।

'तुम मुझ एक बात बताओ, मुख्तार ने पूछा।

'क्या?'  
'जब दंगा होता है तो ये सब लोग क्या करते हैं?'

मैं जलकर बोला, 'अखबार पढ़ते हैं, घर में रहते हैं और क्या करेंगे?'

'तब तो इस जुबानी जमा-खर्च का फायदा क्या है?'

'बहुत फायदा है, बताओ?'

'भाई, एक माहौल बनता है, फिरकापरस्ती के खिलाफ।'

'किन लोगों में? इन्हीं में जो पहले से ही फिरकापरस्ती के खिलाफ हैं? तुम्हें मालूम है दंगों के बाद सबसे पहले हमारे मोहल्ले में कौन आये थे?'

'कौन?'

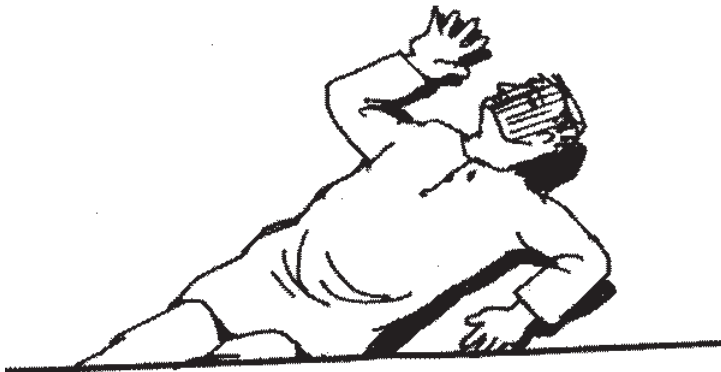
'तबलीगी जमात और जमाते-इस्लामी के लोग... उन्होंने लोगों को आटा-दाल, चावल बांटा था, उन्होंने दवाएं भी दी थीं। उन्होंने कर्फ्यू पास भी बनवाये थे।'

'तो उनके इस काम से तुम समझते हो कि वे फिरकापरस्ती के खिलाफ हैं।'

'हों या न हों, दिल कौन जीतेगा... वही जो मुसीबत के वक्त हमारे काम आये या जो...'

मैं उसकी बात काटकर बोला, 'खैर बाद में बात करेंगे, अभी सुनने दो।'

कुछ देर बाद मैंने उससे कहा, 'बात ये है यार कि इन लोगों के पास इतनी ताकत नहीं है कि दंगों के वक्त



बस्तियों में जायें।'

'इनके पास उतनी ताकत नहीं है और जमाते इस्लामी के पास है?'

मैं उस वक्त उसके इस सवाल का जवाब न दे पाया। मैंने अपनी पहली ही बात जारी रखी, 'जब इनके पास ज्यादा ताकत आ जायेगी तब ये दंगाग्रस्त इलाकों में जा सकेंगे, काम कर सकेंगे।'

'उतनी ताकत कैसे आयेगी?'

'जब ये वहां काम करेंगे।'

'पर अभी तुमने कहा कि इनके पास उतनी ताकत ही नहीं है कि वहां जा सकें... फिर काम कैसे करेंगे?'

'तुम कहना क्या चाहते हो?'

'मतलब यह है कि इनके पास इतनी ताकत नहीं है कि ये दंगे क बाद या दंगे के वक्त उन बस्तियों में जा सकें जहां दंगा होता है, और ताकत इनके पास उसी वक्त आयेगी जब ये वहां जाकर काम करेंगे... और जा सकते नहीं।'

'यार, हर वक्त दंगा थोड़ी होता रहता है, जब दंगा नहीं होता तब

जायेंगे।'

'अच्छा ये बताओ, जमाते इस्लामी के मुकाबले इन लोगों को कमजोर कैसे मान रहे हो... इनके तो एम.पी. हैं, दो तीन सूबों में इनकी सरकारें हैं, जबकि जमाते इस्लामी

का तो एक एम.पी. भी नहीं।'

मैं बिगड़कर बोला, 'तो तुम ये साबित करना चाहते हो कि ये झूठे, पाखंडी, कामचोर और बेईमान लोग हैं?'

'नहीं, नहीं, ये तो मैंने बिल्कुल नहीं कहा! वह बोला।

'तुम्हारी बात से मतलब तो यही निकलता है।'

'नहीं, मेरा ये मानना नहीं है।'

मैं धीरे-धीरे उसे समझाने लगा, 'यार, बात दरअसल ये है कि हम लोग खुद मानते हैं कि काम जितनी तेजी से होना चाहिए, नहीं हो रहा है। धीरे-धीरे हो रहा है, लेकिन पक्के तरीके से हो रहा है। उसमें टाइम तो लगता ही है।'

'तुम ये मानते होगे कि फिरकापरस्ती बढ़ रही है।'

'हां।'

'तो ये धीरे-धीरे जो काम हो रहा है उनका कोई असर नहीं दिखाई पड़ रहा है, हां फिरकापरस्ती जरूरी दिन दूनी रात चौगुनी स्पीड से बढ़ रही है।'

'अभी बाहर निकलकर बात करते हैं।' मैंने उसे चुप करा दिया।

इस बीच चाय सर्व की गयी। आखिरी वक्ता ने समय बहुत जो जाने और सारी बातें कह दी गयी हैं, आदि-आदि कहकर अपना भाषण समाप्त कर दिया। हम दोनों थोड़ा पहले ही बाहर निकल आये। सड़क पर साथ-साथ चलते हुए वह बोला, 'कोई ऐलान तो किसी को करना चाहिए था।'

'कैसा ऐलान?'

'मतलब ये है कि अब ये किया जायेगा, ये होगा।'

'अरे भाई, कहा तो गया कि जनता के पास जायेंगे, उसे संगठित और शिक्षित किया जायेगा।'

'कोई और ऐलान भी कर सकते थे।'

'क्या ऐलान?'

'प्रोफेसर साहब कह सकते थे कि अगर फिर दिल्ली में दंगा हुआ तो वे भूख हड़ताल पर बैठ जायेंगे। राइटर जो थे वो कहते कि फिर दंगा हुआ तो वे अपनी पद्मश्री लौटा देंगे। स्वतंत्रता सेनानी अपना ताम्रपत्र लौटाने की धमकी देते।' उसकी बात में मेरा मन खिन्न हो गया और मैं चलते-चलते रुक गया। मैंने उससे पूछा, 'ये बताओ, तुम्हें इतनी जल्दी, इतनी हड़बड़ी क्यों है?'

वह मेरे आगे झुका। कुछ बोला नहीं। उसने अपने सिर के बाल हटाये। मेरे सामने लाल-लाल जखम थे जिसे ताजा खून रिस रहा था।



## शहीद ऊधमसिंह पार्क में शहीदों के सपनों को पूरा करने का संकल्प लिया

31 जुलाई, कैथला नौजवान भारत सभा (हरियाणा) द्वारा शहीद ऊधमसिंह के 76वें शहादत दिवस व कलम के सिपाही मुंशी प्रेमचन्द के 136 वें जन्मदिवस के अवसर पर देशभक्त यादगारी जुलूस निकाल गया। नौभास की ओर रमेश, अजय व जगविन्दर ने सभा को सम्बोधित किया। वक्ताओं ने कहा कि आज देश में नौजवानों के बीच हमें अपनी क्रान्तिकारी विरासत को लेकर जाने की जरूरत है क्योंकि वर्तमान समाज साफ तौर शहीदों के सपनों का समाज नहीं है, आज पूरे देश की मेहनतकश जनता महंगाई, बेरोजगारी और लूट से त्रस्त है, आये दिन गरीब दलितों-अल्पसंख्यकों के खिलाफ हिंसा बढ़ती जा रही है। ऐसे में नौजवानों को शहीदों के सपने, समतामूलक समाज को बनाने का संकल्प लेना होगा।

नरवाना के गाँव धमतान साहिब

के सरस्वती सीनियर सेकेंडरी स्कूल में निबन्ध लेखन और चित्रकला प्रतियोगिता का आयोजन किया। अलग-अलग स्कूलों के लगभग 50 विधार्थियों ने इसमें भाग लिया। नौभास के रमेश ने कहा कि 7 वर्ष की आयु के बाद ऊधम सिंह का पालन पोषण अनाथालय में हुआ लेकिन जलियांवाला हत्याकाण्ड का बदला लेकर देश का दाग धोने के जुनून में वो अपनी तमाम बाधाओं को पार करते हुए लंदन तक पहुंचे और वहां पर माइकल ओ डायर को ढेर किया। और इसी जुनून ने प्रेमचन्द की लेखनी को निरंतर गतिमान रखा। प्रिंसिपल नथीराम ने बताया कि सच्चा लेखक वही है जिसकी कलम जनता के संघर्षों से वास्ता रखे न कि कमरे में बंद बुद्धिजीवी। प्रेमचन्द ने सरकारी नौकरी छोड़कर जनता के संघर्षों से नाता जोड़ा। उनकी कलम ने पराधीनता, महिला

उत्पीडन, जातिवाद, साम्प्रदायिकता के खिलाफ खुलकर बोला और तमाम कुप्रथाओं पर मुखर होकर हमला किया। जबकि आज के अधिकतर बुद्धिजीवी नेता मंत्रियों और सरकारों की चाटुकारीता में माहिर हैं और जनता से दगाबाजी करते हैं। आज भी हमारे सामने तमाम समस्याएँ हैं। नौजवान भारत सभा देश के नौजवानों को आह्वान करती है कि आज फिर से देश को जात-धर्म के नाम पार बाँटा जा रहा है। हमें ऊधम सिंह और प्रेमचन्द का सन्देश देश के कोने कोने तक लेके जाना होगा और जात-धर्म के नाम पर लड़ने वाली ताकतों को मुहतोड़ जवाब देना होगा। प्रेमचन्द की कलम हमें उठानी होगी।

— बिगुल संवाददाता

## 2 सितम्बर की हड़ताल जैसे वार्षिक अनुष्ठानों से क्या होगा?

(पेज 15 पर जारी)

के दमन में बेतहाशा बढ़ोतरी हुयी है। साफ़ है कि एक दिन की हड़ताल का मकसद होता है मजदूरों के भीतर पनप रहे गुस्से को थोड़ा-थोड़ा करके निकालना ताकि मजदूरों का गुस्सा ज्वालामुखी के समान फट न पड़े। इस भूमिका को तमाम नव क्रान्तिकारी और 'इंकलाबी' केंद्र इस मैनेजमेंट में भी भागीदार हैं।

हमारा मनना है कि हड़ताल मजदूर वर्ग का एक बहुत ताकतवर हथियार है जिसका इस्तेमाल बहुत तैयारी और सूझबूझ के साथ किया जाना चाहिए। हड़ताल का मतलब होता है पूँजीवादी उत्पादन का चक्का

जाम करना। लेकिन ऐसी एकदिनी रस्मों से पूँजीवाद की सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ता बल्कि उलटे इस रस्म को भारतीय पूँजीवाद ने सहयोजित कर लिया है। मजदूरों को आज अपने हकों की हिफाजत के लिए जुझारू संघर्ष की लंबी तैयारी करनी होगी। अगर हम एकजुट होकर संघर्ष करें तो अपने हक हासिल कर सकते हैं लेकिन संघर्ष के नाम पर एक दिन की रस्मी कवायद से पूँजीवाद के राक्षस को खुजली तक नहीं होती।

## पूँजीवाद और स्वास्थ्य सेवाओं की बीमारी

भारतीय संविधान के भाग 3, आर्टिकल 21 में एक मूलभूत अधिकार दिया गया है जिसको “जीवन की रक्षा का अधिकार” कहा जाता है, और साथ ही संविधान में वर्णित राज्य के नीति निर्देशक तत्वों में “पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊंचा करने तथा लोक स्वास्थ्य को सुधार करने का राज्य का कर्तव्य” की बात कही गयी है। इस प्रकार हमारे देश के हर नागरिक के जीवन और स्वास्थ्य की रक्षा और देखभाल की जिम्मेदारी सीधे तौर सरकार की है। लेकिन असल में होता इसका उल्टा है। सरकार लगातार लोक स्वास्थ्य से हाथ खींचती जा रही है और देश की जनता का स्वास्थ्य खूनचूस पूँजीपतियों के हाथ में आता जा रहा है। आइये देखते हैं कि कैसे भारत में पूँजीवादी व्यवस्था मुनाफे के लिए लोगों के स्वास्थ्य और जिंदगी के साथ खिलवाड़ कर रही है।

सार्वजनिक स्वास्थ्य का आधुनिक इतिहास भारत में ब्रिटिश काल से शुरू होता है जब अंग्रेजों ने भारत में अपना शासन सुदृढ़ करने के लिए अन्य चीजों के साथ सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए भी कुछ प्रावधान शुरू किये थे। लेकिन अंग्रेजों को एक गुलाम देश के स्वास्थ्य की कोई खास चिंता नहीं थी और इस पूरे कालखंड के दौरान भारत एक बीमार और कुपोषित देश बना रहा। आजादी के बाद कांग्रेस के नेतृत्व में पूँजीपति वर्ग के हाथ में जब सत्ता आई तो पहली पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत सार्वजनिक स्वास्थ्य को भी सरकार के कार्यक्रम में शामिल किया गया। जैसा कि ऊपर जिक्र हुआ है कि संविधान के तहत लोक स्वास्थ्य को भी सरकार का कर्तव्य माना गया था। यह वह दौर था जब पूरी दुनिया में कल्याणकारी राज्य के कीन्सियाई फ़ॉर्मूले को लागू किया जा रहा था ताकि पूँजीवाद की फटी चादर में कुछ पैबंद लगा कर काम चलाया जा सके। सो भारत में भी, दिखावे के तौर पर ही सही, कुछ कल्याणकारी काम शुरू किये गए। लेकिन 1980 का दशक आते आते कीन्सियाई फ़ॉर्मूले की फूंक निकलने लगी। लगातार जारी पूँजीवादी संकट के चलते पूरी दुनिया की पूँजीवादी सरकारें जनकल्याणकारी कामों से हाथ खींचने लगी और पूरी दुनिया में “भूमंडलीकरण” और “नवउदारीकरण”

की नीतियाँ शुरू हुईं। अधिकतर देशों के साथ भारत में भी 1990 के दशक की शुरुआत में आर्थिक सुधारों के नाम पर इन नीतियों की शुरुआत की गई, जो पिछले दो दशकों से लगातार तेज होती चली जा रही हैं।

अभी तक पूरी दुनिया में जन स्वास्थ्य को देखने वाली संस्था “विश्व स्वास्थ्य संगठन” थी। लेकिन भूमंडलीकरण के साथ ही इस क्षेत्र में नए खिलाड़ियों “विश्व बैंक” और “विश्व व्यापार संगठन” का प्रवेश होता है। इन संस्थाओं के आगमन के बाद से दुनिया भर की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीतियों में विश्व स्वास्थ्य संगठन की भूमिका कम से कमतर होती चली गयी और इन संस्थाओं की भूमिका बढ़ती चली गई। 1987 में विश्व बैंक “financing health services in developing countries” यानि “विकासशील देशों में स्वास्थ्य सेवाओं के वित्तपोषण” के नाम से एक नई स्कीम लेकर आया। विश्व बैंक ने इस स्कीम के तहत ये सुझाव दिए थे:-

1. सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में मरीज द्वारा किये जाने वाले भुगतान की राशी को बढ़ाया जाये,
2. निजी स्वास्थ्य बीमा को विकसित किया जाये,
3. निजी क्षेत्र की भूमिका को स्वास्थ्य सेवाओं में बढ़ाया जाये, और
4. सरकारी स्वास्थ्य सेवाओं का विकेंद्रीकरण किया जाये।

विश्व बैंक ने 1993 में अपनी वैश्विक विकास रिपोर्ट में “स्वास्थ्य में निवेश” के नाम पर ये सभी सुझाव और अधिक परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किये और तमाम कर्जदार देशों, जो नवउदारीकरण की नीतियों को लागू करने के चलते इसके कर्ज तले आ गए थे, को ये सुझाव मानने और लागू करने पर मजबूर कर दिया। इसके साथ ही स्वास्थ्य सेवाओं को अधिकारिक रूप से “सार्वजनिक सेवा” की जगह “माल” के रूप में बदल दिया गया। और इस तरह पूरी दुनिया में स्वास्थ्य क्षेत्र में सरकार की भूमिका कम से कमतर होती चली गयी और निजी क्षेत्र का दखल अधिक से अधिक होता चला गया।

भारत की बात की जाये तो पिछले दो दशक में आर्थिक सुधारों

### डॉ. नवमीत

और नवउदारीवादी नीतियों के चलते यहाँ हर क्षेत्र की तरह जनस्वास्थ्य की हालत भी खस्ता हो चुकी है। विश्व बैंक और विश्व व्यापार संगठन के हस्तक्षेप के कारण पिछले कुछ सालों में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन आये हैं उनकी हम संक्षेप में चर्चा करेंगे। सबसे पहले तो जनस्वास्थ्य के क्षेत्र में निवेश से सरकार द्वारा हाथ खींचा जा रहा है और साथ ही छोटे छोटे टेस्टों के लिए भी मरीज से पैसे वसूले जा रहे हैं। इसके बावजूद भी सरकारी अस्पतालों में बहुदा कोई सुविधा नहीं होती है या फिर उसके लिए इंतजार ही इतना करना पड़ता है कि हार कर मरीज को प्राइवेट अस्पताल जाना पड़ता है, जहाँ खर्चा इतना होता है कि गरीब आदमी उसको वहन नहीं कर पाता। लेकिन इतना काफी नहीं था। इसके साथ ही सरकार “स्वास्थ्य बीमा” के रूप में एक और स्कीम लेकर आई है जो कुछ और नहीं बल्कि पूँजीवादी सरकार द्वारा आम जनता से किया गया एक धिनौना मजाक है। साफ सी बात है, अगर स्वास्थ्य सेवाएँ सरकार द्वारा मुफ्त में उपलब्ध करवाई जाएँ, जोकि पूरी तरह से संभव है, तो स्वास्थ्य बीमा की जरूरत ही नहीं पड़ेगी। जाहिर है कि सरकार की नियत ही नहीं है। तीसरा सरकार लगातार इस क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी को बढ़ाती जा रही है। अब पूँजीपति तो कोई भी काम मुनाफे के लिए ही करता है तो साफ है कि स्वास्थ्य सेवाएँ महंगी तो होनी ही हैं। परिणाम हमारे सामने है। इससे भी आगे बढ़ते हुए सरकार स्वास्थ्य सेवाओं के प्रबंधन से भी पीछे हट रही है और यह जिम्मेदारी भी स्थानीय संस्थाओं को, जिनमें बड़े पैमाने पर साम्राज्यवाद के टुकड़खोर गैर सरकारी संगठन यानि एनजीओ शामिल हैं, को सौंपती जा रही है।

बहरहाल बात करते हैं स्वास्थ्य सेवाओं में निवेश होने वाले सरकारी पैसे की। विश्व स्वास्थ्य संगठन की सिफारिशों में अनुसार किसी भी देश को अपने सकल घरेलू उत्पाद यानि जीडीपी का कम से कम 5 प्रतिशत हिस्सा स्वास्थ्य में लगाना चाहिए। क्या आप जानते हैं भारत में यह कितना होता है? भारत में पिछले दो दशक से लगातार यह

1 प्रतिशत के आसपास रहा है। 11वीं पंचवर्षीय योजना में 2 प्रतिशत का लक्ष्य रखा गया था। लगाया गया केवल 1.09 प्रतिशत। 12वीं योजना के पहले सरकार ने उच्च स्तरीय विशेषज्ञों का एक ग्रुप बनाया था जिसने इस योजना में स्वास्थ्य सेवाओं के लिए जीडीपी का 2.5 प्रतिशत निवेश करने की सिफारिश की थी लेकिन सरकार द्वारा लक्ष्य रखा सिर्फ 1.58 प्रतिशत। साफ है कि सरकार भले ही पूँजीपतियों को कई कई लाख करोड़ की रियायतें और अनुदान दे दे, लेकिन जनता के लिए उसके पास पैसे की कमी हमेशा रहती है। जाहिर है भारत सरकार स्वास्थ्य सेवाओं में पैसा खर्च नहीं करना चाहती। अब अगर सरकार किसी क्षेत्र में निवेश से हाथ खींचती है तो इसका सीधा मतलब होता है कि उस क्षेत्र में अब निजी कंपनियाँ निवेश करेंगी। तो भारत में स्वास्थ्य सेवाओं में निजी क्षेत्र द्वारा किया गया निवेश कुल निवेश का 75 प्रतिशत है। यह पूरी दुनिया में स्वास्थ्य सेवाओं के अंतर्गत निजी क्षेत्र की सबसे बड़ी भागीदारियों में से एक है। इस तरह ये कंपनियाँ इस देश के आम आदमी के स्वास्थ्य की एवज में मोटा मुनाफा कूट रही हैं। अब जबकि निजी कंपनियों का लक्ष्य ही मुनाफा है तो उनको बीमारियों के बचाव और रोकथाम यानि प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं में कोई दिलचस्पी नहीं होती, ये केवल बीमारियाँ हो जाने पर महंगा इलाज मुहैया कराती हैं।

इसके चलते भारत का पहले से ही जर्जर प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा ढांचा बिलकुल ही बैठ चुका है। भारत में हर तीस हजार की आबादी पर एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र, हर एक लाख की आबादी पर 30 बेड वाले एक सामुदायिक स्वास्थ्य केंद्र और हर सब डिविजन पर एक 100 बेड वाले सामान्य अस्पताल का प्रावधान है जो कभी पूरा ही नहीं हुआ। उस पर भी पिछले दो दशक में भारत की आबादी तो बढ़ी है लेकिन स्वास्थ्य केंद्रों में उसके अनुपात में नगण्य वृद्धि हुई है। सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों की भारी कमी के कारण गरीब आबादी को मजबूरन प्राइवेट डॉक्टरों के पास अपनी जेब कटवानी पड़ती है। जैसा कि हम जिक्र कर चुके हैं कि मुनाफे की हवस के चलते निजी क्षेत्र की दिलचस्पी

प्राथमिक स्वास्थ्य में कभी नहीं होती, वे केवल तृतीयक स्वास्थ्य सेवाओं यानि बड़े अस्पतालों में निवेश करते हैं, जबकि देश की मेहनतकश आबादी अधिकतर संक्रामक रोगों से जूझती है जिनमें तुरंत प्राथमिक सेवा की जरूरत होती है। दूसरा इन निजी और कॉर्पोरेट अस्पतालों का खर्चा इतना ज्यादा होता है कि गरीब मेहनतकश ही नहीं बल्कि एक आम मध्यवर्गीय व्यक्ति भी इसको वहन नहीं कर सकता। नतीजन उसको या तो मरना पड़ता है या फिर कर्जे में डूबना पड़ता है। कुछ अध्ययनों के अनुसार बीमारियों के इलाज में होने वाले खर्चों के चलते भारत में हर साल लगभग चार करोड़ लोग गरीबी की रेखा के नीचे चले जाते हैं। नरेंद्र मोदी ने सत्ता में आने से पहले सभी को स्वास्थ्य सेवाएँ देने का वादा किया था। सत्ता में आने पर मोदी सरकार ने एक सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा सिस्टम बनाने की योजना भी बनाई थी लेकिन 2015 में फण्ड की कमी का बहाना बना कर इस योजना को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया और अन्य वादों की तरह यह भी एक चुनावी जुमला सिद्ध हुआ। जले पर नमक छिड़कते हुए 2015 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य पालिसी में तो सरकार ने खुलेतौर पर स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण की बात पर जोर दिया है। इसके लिए सरकार का शिगूफा है “प्राइवेट पब्लिक पार्टनरशिप”, जिसमें इंफ्रास्ट्रक्चर और पैसा सरकार यानि देश की जनता का और मुनाफा पूँजीपतियों का होगा। दलील दी गयी है कि गरीब आदमी को इससे उच्च श्रेणी की स्वास्थ्य सुविधाएँ मिलेंगी, जबकि सच्चाई इससे कोसों दूर है। गरीब आदमी को सिर्फ ठोकर मिलती है, या फिर मिलती है बीमारी से मृत्यु। 2007 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने निर्देश दिया था कि प्राइवेट अस्पतालों में 10 प्रतिशत बिस्तर गरीब मरीजों के लिए मुफ्त होने चाहिए। इसके लिए दिल्ली सरकार ने प्राइवेट अस्पतालों को नोटिफिकेशन भी जारी किया हुआ है। लेकिन इस बात से इन अस्पतालों के मालिकों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ये अस्पताल अपने बिस्तरों को खाली रख लेते हैं लेकिन गरीबों को कभी भर्ती नहीं करते। हाँ अगर कोई पैसे देकर इलाज (पेज 7 पर जारी)

## जनता की बढ़हाली के दम पर दिनों-दिन बढ़ रही है भारत के धन्नासेठों की आमदनी

1991 से उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण की नीतियों को जोर-शोर से लागू करने की शुरुआत के समय ही प्रचार किया जा रहा है कि इन नीतियों के कारण ऊपरी वर्गों की आमदनी बढ़ेगी और यही खुशहाली रिस-रिस कर निचले वर्गों तक भी पहुँचेगी। मगर इतने सालों की असलियत यही है कि ऊपरी वर्ग और अमीर होते जा रहे हैं जबकि आम लोगों के लिए हालात बद से बदतर होती जा रही है।

हाल में जारी नये आँकड़े पूँजीवादी व्यवस्था की इन नीतियों की सच्चाई

को और गंगा कर देते हैं। ‘वर्ल्ड वैलथ’ और फोर्ब्स द्वारा जारी दो रिपोर्टों में बताया गया है कि भारत में इस समय कुल 2.36 लाख करोड़पति हैं जिनकी कुल संपत्ति 10 लाख करोड़ से भी अधिक है और यह हिस्सा बहुत तेजी से बढ़ रहा है। आने वाले 10 वर्षों तक इन करोड़पतियों की गिनती दुगुनी से भी अधिक हो जायेगी, अर्थात् भारत में 2025 तक 5.54 लाख करोड़पति होंगे। 2008 से विश्व अर्थव्यवस्था एक गहरे संकट का शिकार है जिससे यह अब तक उबर नहीं सकी है। भारत के हुकमरान

भी विश्व भर की सरकारों की तरह शिक्षा, स्वास्थ्य, पेंशन आदि पर होने वाले खर्च में कटौती कर रहे हैं पर इसी दौरान मतलब 2008 से 2016 के बीच भारत में करोड़पतियों की गिनती 55% बढ़ी है। इसका साफ मतलब यह है कि आम लोग तो आर्थिक संकट का सारा बोझ झेल रहे हैं पर इन पूँजीपतियों की अय्याशी और ठाठबाट दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। इन धन्नासेठों की अमीरी का मुख्य स्रोत शेयर बाजार जैसी सट्टेबाजी से होने वाली आमदनी है। सरकार इनको जो रियायतें, सब्सिडियाँ, कर्जे आदि

देती है, उसका बड़ा हिस्सा ये शेयर बाजार में लगा देते हैं। हम देखते हैं कि भिन्न-भिन्न सरकारों के समय में भी इन धन्नासेठों की आमदनी लगातार बढ़ती गयी है, चाहे कांग्रेस हो या भाजपा या कोई और। क्योंकि सभी पार्टियों की नीतियाँ पूँजीवाद के पक्ष में ही हैं। इसलिए पूरी व्यवस्था को बदले बिना सिर्फ सरकारें बदलने का ना तो कोई नतीजा निकला है और ना निकलेगा।

जहाँ एक ओर तो आम लोग अपने बच्चों की शिक्षा को लेकर भी चिंतित हैं कि अगर कोई घर में बड़ी बीमारी का

शिकार हो जाये तो उसके इलाज पर वर्षों की कमाई लग जाती है वहीं दूसरी ओर भारत के धन्नासेठ दिनों-दिन अमीर होते जा रहे हैं और सरकारें भी अपनी नीतियों द्वारा उनकी पूरी सेवा करती रहती हैं। यह पूँजीवादी व्यवस्था लोगों से उनकी बुनियादी जरूरतें भी दिनों-दिन छीन रही है जबकि ऊपर वाला वर्ग अय्याशी में डूबा हुआ है। ऐसी मानवद्रोही व्यवस्था को बदलना आज हर इंसाफ़पसंद व्यक्ति की माँग होनी चाहिए।

— मानव